



ज्ञान मन्दिर  
न्यू सेण्ट्रल जूट मिल्स कम्पनी लिमिटेड,  
वजवज, चौबीस परगना  
की ओर से  
श्री सिद्धचक्रविधान महोत्सव के  
सानन्द सम्पन्न होने के उपलक्ष में  
सादर भेंट



माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला सप्तचत्वारिंशो ग्रन्थः

नरेन्द्रसेनविरचिता  
प्रमाणाप्रमेयकलिका

प्राज्ञायन लेखक  
श्री हीराचल्लभ शास्त्री दर्शन विभागाध्यक्ष  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



सम्पादकः  
दरबारीलालो जैनः कोठिया  
जैनदर्शन प्राध्यापकः  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयस्य



प्रकाशक  
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्रथमावृत्तिः ]

वर्षा निर्वर्ण संवत् २४८७

[ मूल्यम् १.५०

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

दुर्गाकुण्ड रोड वाराणसी

प्रथम आवृत्ति : ८०० प्रति

मूल्य १.५०

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय

दुर्गाकुण्ड रोड वाराणसी

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, अनेक गुरुकुलोंके प्रतिष्ठाता  
तत्त्वज्ञानी, महाप्रती  
पूज्य श्री मुनि समन्तमद्र जी महाराजको  
उनके करकमलोंमें  
सविनय  
समर्पित

श्रद्धावन्त

—दरबारीलाल कोठिया



## विषयानुक्रमिका

१. ग्रन्थ संकेत-सारिणी	७
२. ग्रन्थमाला संपादकोंका वक्तव्य	११
३. प्राक्कथन	१५
४. संपादकीय	३१
५. प्रस्तावना	१-६०
( १ ) ग्रन्थ	१
( क ) प्रमाणप्रमेयकलिका	१
( ख ) नाम	१
( ग ) भाषा और रचना-शैली	२
( घ ) बाह्यविषय-परिचय	३
( ङ ) आन्तरिकविषय-परिचय	४
१. मंगलाचरण	४
२. ताव-जिज्ञासा	७
३. प्रमाणताव-परीक्षा	११
( अ ) ज्ञानव्यापार-परीक्षा	११
( आ ) इन्द्रियवृत्ति-परीक्षा	१४
( इ ) कारकसाकल्य-परीक्षा	१५
( ई ) सन्निकर्ष-परीक्षा	१६
( उ ) प्रमाणका निर्दोष स्वरूप	१८
( ऊ ) प्रमाणका कल	१६
( ऋ ) प्रमाण और फलका भेदाभेद	१९
( ॠ ) ज्ञानके अनिवार्य कारण	२०



४. प्रमेयतत्त्व-परीक्षा	२२
( अ ) सामान्य-परीक्षा	२३
( आ ) विशेष-परीक्षा	३१
( इ ) सामान्यविशेषोभय-परीक्षा	३७
( ई ) ब्रह्म-परीक्षा	४२
( उ ) अक्षरव्यावृत्तव्यवृत्तत्व-परीक्षा	४६
( ऊ ) सामान्य-विशेषात्मक प्रमेय-सिद्धि	४७
( २ ) ग्रन्थकार	
( क ) ग्रन्थकर्ताका परिचय	४८
( ख ) नरेन्द्रसेन नामके अनेक विद्वान्	४८
( ग ) प्रमाणप्रमेयकलिकाके कर्ता नरेन्द्रसेन	५७
( घ ) नरेन्द्रसेनकी गुरु-शिष्य-परम्परा	५८
( ङ ) नरेन्द्रसेनका समय	५९
( च ) नरेन्द्रसेनका व्यक्तित्व और कार्य	५९
( छ ) उपसंहार	६०
४. ग्रन्थ विषय सूची	६१
७. प्रमाणप्रमेयकलिका मूल और टिप्पणी	१-४६
८. परिशिष्ट	४८

## ग्रन्थसंकेत-सारिणी

ग्रन्थ-संकेत	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थप्रकाशन-स्थान
अष्टस.	अष्टमहस्यो	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
अष्टग. अष्टस.	अष्टसती-अष्टसहस्री	" "
आप्तमी.	आप्तमीमांसा	जैनसिद्धान्त प्रकाशनी- संस्था, कलकत्ता,
का.	कारिका	X X X
जैनतर्कभा.	जैनतर्कभाषा	सिधी जैन सीरीज बम्बई
जैनद.	जैनदर्शन	डा. महेन्द्रकुमारजी, वर्णो ग्रन्थमाला, काशी
तत्त्वसं.	तत्त्वसंग्रह	ओरियण्टल सीरीज, बहीदा
तत्त्वा. भा.	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	देवचंद लालभाई कण्ड, सूरत
तत्त्वार्थवा.	तत्त्वार्थवातिक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तत्त्वार्थश्लो. वा. } त. श्लो. वा. }	तत्त्वार्थश्लोकवातिक	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
तत्त्वार्थमू.	तत्त्वार्थमूत्र	कापड़िया, सूरत
नयचक्रमं.	नयचक्रमंग्रह	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
न्यायकु.	न्यायकुमुदचन्द्र	" " "
न्यायदी. } न्या. दी. }	न्यायदीपिका	वीरसेवामन्दिर, दिल्ली

न्यायवि. टी.	न्यायविन्दुटीका	का. ज्ञायसवाल सीरीज, पटना
न्यायभा.	वात्स्यायनन्यायमाध्य	गुजराती प्रेस, दम्बई
न्यायवा.	न्यायवार्तिक	चौखम्बा सीरीज, काशी
न्यायकुसु.	न्यायकुसुमाञ्जलि	" "
न्यायवि.	न्यायविनिश्चय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
न्यायवि. वि.	न्यायविनिश्चयविवरण	" " "
न्या. वि.	न्यायविन्दु	का. ज्ञायसवाल सीरीज, पटना
न्यायसू. } न्या. सू. }	न्यायसूत्र	चौखम्बा सीरीज, काशी
न्यायमं. } न्या. मं. }	न्यायमंजरी	" " "
परीक्षामु. } परी. मु. }	परीक्षामुद्य	पं० पनदयाप्रदासजी,
पञ्चाध्या.	पञ्चाध्यायी	पं० देवकीनन्दनजी
प्रकरणपं०	प्रकरणपञ्जिका	चौखम्बा सीरीज, काशी
प्रमाणपरी. } प्रमाणप. }	प्रमाणपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
प्रमाणमी.	प्रमाणमीमांसा	सिधी जैन सीरीज, दम्बई
प्रमाल,	प्रमालक्षणटीका	कलकत्ता
प्रमाणवा. } प्र. वा. }	प्रमाणवार्तिक	विहार-उद्दीप्ता रिसर्च- सोसाइटी, पटना
प्रमाणस.	प्रमाणसमुच्चय	मैसूर युनिवर्सिटी सीरीज, मैसूर
प्रमेयक.	प्रमेयकप्रलमातृञ्च	निर्णयसागर प्रेस, दम्बई
प्रमेयर.	प्रमेयरत्नमाला	पं० फूलचन्द्रजी, काशी

ग्रन्थसंकेंन-सारिणी

प्रज्ञस्त. भा. }  
प्रज्ञ. भा. }

प्रज्ञस्तपादभाष्य

चौखम्बा सीरीज, काशी

पृ.

पृष्ठ

× × ×

भाठरवृ.

भाठरवृत्ति

चौखम्बा सीरीज, काशी

मी. श्लो.

मीमांसाश्लोकवार्तिक

" " "

बृहदा.

बृहदारण्यकोपनिषद्

निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

योगद.

योगदर्शन

चौखम्बा सीरीज, काशी

योगवा.

योगवार्तिक

" " "

रत्नाकरावता.

रत्नाकरावतारिका

यशोविजय ग्रन्थमाला,  
भावनगर

सुरस्यनुशा. टी.

सुरस्यनुशासनटीका

माषिकचन्द्र ग्रन्थमाला,  
बम्बई,

लघो. }  
लघोय. }

लघोयस्त्रय

माषिकचन्द्र ग्रन्थमाला,  
बम्बई

शास्त्र्या. भा.

शास्त्र्यामनन्यायभाष्य

गुजराती प्रेस, बम्बई

शावरभाष्य बृह.

शावरभाष्य बृहती टीका

मद्रास यूनिवर्सिटी

सीरीज मद्रास

शास्त्रदी.

शास्त्रदीपिका

निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

श्लो.

श्लोक

× × ×

सम्प्रतिष्ठ. टी.

सम्प्रतिष्ठकटीका

गुजरात विद्यापीठ,

अहमदाबाद

सर्वार्थसि.

सर्वार्थसिद्धि

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी,

सां. प्र. भा.

सांख्यप्रवचनभाष्य

चौखम्बा सीरीज, काशी,

सि. चन्द्रोदय

सिद्धान्तचन्द्रोदय

" " "

स्या. मं.

स्याद्वादमञ्जरी

रायचन्द्र शास्त्रमाला,

बम्बई

स्याद्वादर.	}	स्याद्वादरत्नाकर	भाट्टप्रभाकर कार्यालय,
स्याद्वादरत्ना.			पूना
सांख्यका.		सांख्यकारिका	धीसम्बा सोरोज, काशी
सांख्यतत्त्वको.		सांख्यतत्त्वकौमुदी	" " "
सांख्यद.		सांख्यदर्शन	" " "
सर्वद. सां.		सर्वदर्शनसंग्रह	माण्डारकर इंस्टीट्यूट,
			पूना
सिद्धिवि.	}	सिद्धिविनिश्चय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सि. वि.			
स्वयम्भू.		स्वयम्भूस्तोत्र	वीरसेवामन्दिर, दिल्ली,



## ग्रन्थमाला-सम्पादकोंका वक्तव्य

मानिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालाके हम नये पुष्पको पाठकोंके हाथ औरते हमें आज हर्ष और विषादकी मिश्रित भावनाका अनुभव हो रहा है । विषादका कारण यह है कि हम बीच ग्रन्थमालाकी भादि-प्रबन्धकारिणी समितिके सदस्योंमेंसे आज कोई भी हमारे साथ नहीं बचा । विग्रम संवत् १९७२ की बात है जब "स्वर्गाय दानवीर सेठ मानिकचन्द्र हीराचन्दजी जे० पी० के कुत्री नामकी स्मरण रसनेके लिए निश्चय किया गया कि उनके नामसे एक ग्रन्थमाला निकाली जाये, जिसमें संस्कृत और प्राकृतके प्राचीन ग्रन्थोंके प्रकाशित करनेका प्रबन्ध किया जाये, क्योंकि महं कार्य सेठजीकी बहुत प्रिय था ।" उस समय ग्रन्थमालाकी जो प्रबन्धकारिणी समिति बनी, उसके ग्यारह सम्मान्य सदस्य थे : सर सेठ हुकुमचन्दजी, सेठ बन्धानमलजी, सेठ कन्नूरचन्दजी, सेठ मुशानन्दजी, सेठ हीराचन्द नेमि-चन्दजी, श्री लालूभाई प्रेमनन्द परीक्ष, सेठ ठाकुरदास भगवानदास जीहरी, ब० शीतलप्रसादजी, पं० धनलालजी काशीवाल, पं० मूढचन्दजी मास्त्री और पं० माधुरामजी प्रेमो ( मन्त्री ) । इन ममिनि-द्वारा अग्रीह किये जानेपर लगभग सौ दाताओंका दान प्राप्त हुआ और र० ७९८७।३) एकत्र हुए । इनमें सबसे बड़ा दान था र० १००१) श्रीमान् सेठ हुकुमचन्दजीका । अन्य सौ दाताओंमेंसे प्रत्येकने र० ५०१) प्रदान किये, दोने र० २५१), एकने २०१), छहने १०१), बारहने ५१), छहने २५), तीनने २१), पन्द्रहने १५), गोलहने ११) और छेपने हमसे कम, जिसमें एक व्यक्तिके साठ आने ॥) का दान भी सम्मिलित है । इस द्रव्यमेंसे र० ५००) सेठ मानिकचन्दजीकी मूर्ति बनवानेमें लगाये गये और शेष ग्रन्थमाला चलानेमें । ग्रन्थमालाकी नियमावलीके अनुसार "जितने ग्रन्थ प्रकाशित होंगे उनका मुख्य लागत मात्र रखा जावेगा । किसी एक ग्रन्थका पूरा या उसका तीन चतुर्थांश खर्चकी सहायता देनेवाले दाताके नामका स्मरण-पत्र और यदि

ये चाहेंगे तो उनका फोटो भी उस ग्रन्थकी सभी प्रतिओंमें लगा दिया जायेगा । यदि सहायता देनेवाले महाशय चाहेंगे तो उनको इच्छानुसार कुछ प्रतिमाँ, जिनकी संख्या सहायताके भूत्यसे अधिक न होंगी, मुफ्तमें वितरण करनेके लिए दे दी जायेंगी ।”

इस योजना, साहाय्य व साधन-ग्रामणीके आधारपर ग्रन्थमालाका प्रथम पुष्प ‘लघोपलब्ध्यादि संग्रह’ वार्षिक यदि २ संवत् १९७२ को प्रकाशित हुआ जिसकी पृष्ठ संख्या २०४ और मूल्य १०० ( छठ आना ) रखा गया ।

हम इन सब बातोंका विवरण यहाँ इसलिए दे रहे हैं कि जिससे पाठकोंको विदित हो जाये कि इस ग्रन्थमालाके कृत्तल गुरुभार पं० माधू-रामजी प्रेमीने कितने अल्प साधनों-द्वारा इस महान् कार्यको आरम्भ किया और ४६ ग्रंथों व ग्रन्थ-संग्रहोंका प्रकाशन कर डाला । जब हम उक्त परिस्थितियोंका आजके वातावरण और गति-विधियोंसे मिलान करते हैं तो आकाश-मातालका अन्तर दिखायी देता है, और पं० माधूरामजी प्रेमी जैसे विद्वान् और चतुर संघोजकके प्रति ग्रन्थ-ग्रन्थका उच्चारण किये बिना नहीं रहा जाता । हमारा मस्तक धट्टासे झुक जाता है । आज न वे परिस्थितियाँ रही और न प्रेमीजी जैसे महापुरुष रहे । वे दिन चले गये “ते हि नो दिवसा गताः” । इस स्मृतिसे हमारे हृदय-पटलपर एक विपादकी रेखा उदित हुई है ।

और हर्ष इस बातका है कि उक्त कुशल कर्णपारके साथ ही ग्रन्थ-मालाका अस्त नहीं हो पाया, जैसा कि प्रायः हुआ है । प्रेमीजीको अपने जीवन-कालमें ही इस ग्रन्थमालाके भविष्यकी चिन्ता हो उठी थी, और उन्होंने अपनी यह चिन्ता हम दोनोंपर व्यक्त की । हमारे सौभाग्यसे हमें इधर अनेक वर्षोंसे प्रेमीजीका पितृतुल्य स्नेह प्राप्त था । साहित्यिक क्षेत्रमें हमें उनका मार्ग-निर्देश भी मिलता था और हम उनके विश्वास-भाजन भी बन सके थे । इसी कारण उनके साथ-साथ इस ग्रन्थमालाके कार्य-कलापसे भी हमारा निकटतम सम्बन्ध हो गया था । हमने प्रेमीजीको

मरोमा दियाया कि हम यथाशक्ति ग्रन्थमालाको चित्र जोड़ित रखनेका प्रयत्न करेंगे । हमने यह चर्चा चलायी, तथा भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक माहू शान्तिप्रसादजी और उनकी विदुषी धर्मरत्नी व ज्ञानपीठकी अध्यक्ष श्रीमती रमाराजीजीने महर्षि इस बालिकाको अपनी गोदमें लेना स्वीकार कर लिया । यद्यपि ग्रन्थमाला अपनी आयुके ४५-४६ वर्ष पूर्ण कर चुकी है, तथापि अब तक कोई स्वयं अपने पैरों नहीं होकर चलनेके योग्य नहीं बनना सका वह बालक ही माना जाता है । इस ग्रन्थमालाका भी कोई सुवस्त्र पहन नहीं हो सका और प्रकाशित ग्रन्थोंका मूल्य तो नियमानुसार लागू मान ही रखा जाना था । इसीलिए उपर कुछ ग्रन्थोंके प्रकाशनमें ग्रन्थमालापर कार्य भी बंद गया था । मालाके नये वालकोंने यह कार्य भी चुका देना स्वीकार कर लिया और ग्रन्थमालाके उद्देश्योंको सुरक्षित रखते हुए उसका मुख्यालय-कार्य भारतीय ज्ञानपीठके अन्तर्गत ले लिया । इस प्रकार ग्रन्थमालाकी एक नया जीवन प्राप्त हो गया । इन उदार वागमय और प्रभावनाके दिग् माहू-परिवारका जितना अभिनन्दन किया जाये, थोड़ा है ।

ग्रन्थमालाके मुख्यालयकी सुरक्षा हो गयी । किन्तु उसे सकल बनानेके लिए दूसरी आवश्यकता यह है कि विद्वानों-द्वारा सुव्यापित ग्रन्थ उसमें प्रकाशनार्थ मिलते रहें । यह कार्य प्रेमीजी अपने हृदयमें चुपचाप बड़े कीटान से करते रहने से । उनके पदचानू अब इस उत्तरदायित्वको सम्हालना समस्त विद्वानोंका कर्तव्य हो जाता है । अभी भी शास्त्र-ग्रन्थोंमें अगणित छोटी-बड़ी अप्रकाशित संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश रचनाएँ पाई हुई हैं । केवल उनके मूल-पाठकी ही यथाशक्ती घोषकर इस ग्रन्थमालामें प्रकाशनार्थ दिया जा सकता है । युगग्रन्थोंके संस्थापकोंने युग-युगान्तरोंको आवश्यकतानुसार युग-परम्पराकी रक्षा की है । किन्तु वर्तमान युगकी माँग है कि समस्त प्राचीन साहित्यकी गुड़ सुबाहू रूपमें मुद्रित कराकर प्रकाशित किया जाये, उनका आधुनिक भाषाओंमें अनुवाद कराया जाये तथा उनपर यथासम्भव घोष-विवरण लिखे जायें । अबतक यह कार्य पूरा नहीं होता



तबतक हम न तो अपने ग्रन्थकार पूर्वाचार्योंके ऋणसे मुक्त हो सकते और न जैन-साहित्यको विद्वत्संसारमें यह उच्च आदरणीय स्थान प्राप्त करा सकते जिसका यह अपने गुणानुसार अधिकारी है। इस कार्यके लिए जैन-भण्डारोंको पुनर्ग्यवस्था व कार्य प्रणालीमें सुधारकी बड़ी आवश्यकता है। इस सबके लिए भी विद्वानों और धीमानोंका सहयोग वांछित है और उक्त कार्यकी पूर्ति हेतु इस ग्रन्थमालाका द्वार खुला हुआ है।

संयोगकी घात है कि इस ग्रन्थमालाका प्रारम्भ एक ग्याय-विषयक ग्रन्थ 'लघीश्वरनादिमंग्रह'से हुआ था और उसके नये जीवनका आरम्भ भी पुनः एक ग्याय-विषयक रचनासे हो रहा है। जैन दार्शनिक धीनरेन्द्र-तेनने 'प्रमाण-प्रमेय-कलिका' नामक अपनी इस छोटी-सी रचनामें ग्यायके प्रधान विषय प्रमाण और प्रमेयके सम्बन्धमें अन्य दार्शनिकोंके मतों पूर्व पक्षमें लेकर जैन दार्शनिक दृष्टिकोणका सुचारु रूपसे प्रतिपादन किया है। ग्रन्थका प्राक्कथन हिन्दू विश्वविद्यालय, काशीके दर्शन-विभागके अध्यक्ष पण्डित श्रीरायलुभ झाखी द्वारा लिखा गया है जिससे विषयका अपेक्षित परिचय और प्रस्तुत ग्रन्थके अध्ययनकी अभिप्रेति उत्पन्न हो। उही विश्व-विद्यालयके जैनदर्शन-प्राध्यापक पण्डित दशरथलालजी कोटियाने ग्रन्थका विधिवत् मुसम्पादन किया है और अपनी आधारभूत प्राचीन प्रतियों तथा इस संस्करणकी विशेषताओंका परिचय आपने सम्पादकीयमें करा दिया है। प्रस्तावनामें आपने ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें विस्तृत विचार किया है। इसके लिए हम उक्त दोनों साहित्यिकोंके कृतज्ञ हैं।

इसके पश्चात् निकलनेवाला ग्रन्थ जैनचिन्तालेखसंग्रह भाग ४ भी तैयार हो रहा है। हमें आशा है कि विद्वानोंके सहयोगसे ग्रन्थमाला अविच्छिन्न रूपसे चलती हुई शीघ्र ही सतपुण्यमयी होनेका गौरव प्राप्त कर सकेगी।

ह्रीराललाल जैन,

भा० ने० उपाध्ये

ग्रन्थमाला-सम्पादक

## प्राक्कथन

अहिंसातश्च धर्म इति धर्मत्रिंशो विदुः ।

अहिंसात्मकं कर्म साकुप्यादात्मवाचरः ॥

—महामा० अनुशा० प०, ११६ अ०, १२ श्लो० ।

### दर्शनकी परिभाषा :

‘दर्शने अर्थार्थनया ज्ञापने पदार्थोऽनेनेति दर्शनम्’ इति व्युत्पत्तिको लेकर ‘दर्शन’ शब्दका प्रयोग नेत्र, स्वप्न, मुष्टि, धर्म, दर्पण और शास्त्र इन छह अर्थोंमें किया गया है ।<sup>१</sup> आँखोंसे पदार्थ देखा जाता है, अतः आँखें दर्शन हैं । इसी तरह स्वप्न आदिमें भी पदार्थ जाना जाता है, इस कारण कोपकारोंने उन्हें भी ‘दर्शन’ शब्दका वाच्य कहा है । किन्तु जब इन सामान्यप्रतिपादक ‘दर्शन’ शब्दका सम्बन्ध किसी मोक्षदि-तत्त्व-प्रतिपादक शास्त्रके साथ होता है तो प्रकरणबन्ध यह ‘दर्शन’ शब्द उस अर्थविशेष—शास्त्रका प्रतिपादक होता है ।<sup>२</sup> जैसे ग्यासदर्शन, वेदान्तदर्शन, जैनदर्शन आदि । वही ‘दर्शन’ शब्द अपने नेत्रादि अन्य अर्थोंका वाचक न होकर गौत्रमादि महर्षि प्रतिपादित ग्यायादिशास्त्रके अर्थविशेषका वाचक होता है । जब-जबतारमक इस संसारमें सार क्या है ? इस दृश्यमान स्थूल जगत्की मुष्टि कैसे हुई ? इसमें अदृश्य सूक्ष्म सत्त्व क्या है ? हेय और उपादेय क्या है ? जीव और अज वस्तु क्या है ? नित्यानित्य तत्त्व क्या है ? प्रमाण

१. ‘नेत्रे स्वप्ने मुष्टौ धर्मे दर्पणे साधे च दर्शनशब्दः ।’

—मैत्रिर्नीकोप

२. दर्शनशब्दसे होनेवाला तत्त्वज्ञान भी ‘दर्शन’ शब्दसे ग्राह्य हो सकता है ।

और प्रमेय क्या है ? जीवको दुःखोपरमरूप परमशान्ति कैसे प्राप्त  
 सकती है और उसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि प्रश्नोंपर पूर्णतया प्रका-  
 डालनेवाला शास्त्र ही दर्शनशास्त्र कहा जाता है । यद्यपि 'दृश्यते य-  
 तद् दर्शनम्' इन व्युत्पत्तिसे सिद्ध 'दर्शन' शब्दका अर्थ दिखायी देनेवाला  
 श्रेय पदार्थ भी है, तथापि करण व्युत्पत्तिसे सिद्ध 'दर्शन' ही यहाँ अभिप्रेत है ।

**दर्शनोपा विभाजन : आस्तिक और नास्तिक विचार :**

इस दर्शनशास्त्र और उसके प्रतिपाद्य तत्त्वोंका मनन एवं चिन्तन  
 करनेवाले मनोपी दार्शनिक कहे जाते हैं । यों तो समग्र विश्वमें, किन्तु  
 विशेषतया भारतवर्षमें इन तत्त्वचिन्तक दार्शनिकोंकी परम्परा सदा रही  
 है । यह दार्शनिक परम्परा अनेक भेदोंमें विभक्त मिलती है । कुछ साम्प्र-  
 दायिक इस दार्शनिक-परम्पराको आस्तिक और नास्तिकके भेदसे दो भागों  
 में विभाजित करते हैं और आस्तिकोंके दर्शनोको आस्तिक दर्शन तथा  
 नास्तिकोंके दर्शनोको नास्तिक दर्शन बतलाते हैं । किन्तु उनका यह  
 विभाजन सोपपत्तिक एवं संगत नहीं ठहरता । यदि 'अस्ति परलोकविप-  
 यिणी मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्ति परलोकविपयिणी मतिर्यस्य स  
 नास्तिकः' इस प्रकार आस्तिक और नास्तिक शब्दोंका अर्थ किया जाये तो  
 यह नहीं कहा जा सकता कि जैनदर्शन नास्तिक दर्शन है, क्योंकि इस  
 दर्शनमें ग्यायाविदर्शनोकी तरह 'आत्मा परलोकगामी है, निरय है, पुण्य-  
 पापादिका कर्ता-भोक्ता है' इत्यादि सिद्धान्त स्वीकृत ही नहीं, अपि तु जैन  
 मान्यतानुसार जैन लेखकों-द्वारा उसका पुष्कल प्रमाणोंसे समर्थन भी किया  
 गया है तथा जैन तीर्थंकरों-द्वारा दिया गया उसका उपदेश भी अविच्छिन्न-  
 रूपेण अनादि कालसे चला आ रहा है । यदि यह कहा जाये कि 'आस्तिक  
 दर्शन वे है जो वेदको प्रमाण मानते हैं और नास्तिक दर्शन वे हैं जो उसे  
 प्रमाण स्वीकार नहीं करते—'नास्तिको वेदनिन्दकः ।' तो यह परिभाषा  
 भी आस्तिक-नास्तिक दर्शनोके निर्णयमें न सहायक है और न अव्यभि-

परिणत है, क्योंकि ग्यायादि विन दर्शनोंको वेदानुयायी होनेसे भाग्यिक दर्शन कहा जाना है, आचार्य दण्डुरकी दृष्टिमें वे वैदिक दर्शनकी कोटिमें प्रविष्ट नहीं है । आचार्य दण्डुर अपने वेदान्त दर्शन ( २-२-३७ ) में स्पष्ट कहते हैं कि 'वेदवाक्य ईश्वरकी कल्पना अनेक प्रकारकी है । उनमें संशय-बादी मान्य उपायुक्त उपादान-कारण प्रकृतिकी मानने हैं और निमित्त कारण ईश्वरको । कुछ वैशेषिकादि भी कल्पना प्रक्रियाके अनुसार ईश्वर को निमित्तकारण कहते हैं ।' इनसे प्रकट है कि आचार्य दण्डुर एक ही ईश्वरको उपादान और निमित्त दोनों माननेवाले दर्शनकी ही वैदिक दर्शन कह रहे हैं और उसमें भाष्यवादी दर्शनकी अवैदिक दर्शन कहला रहे हैं । यहाँ भाष्यकी रत्नरत्ना आदि टीकाओंके रचयिताओंमें स्पष्ट ही नैवायिकों तथा जैनियोंको 'मग्नप्रज्ञादि भाष्योंका ज्ञाना कर्मफल देना है' ऐसा समानमिद्वान्तवादी कहा है ।<sup>१</sup> इनका ही यही, विष्णु वहाँ एक दूसरी बात भी कह रही है । वह यह कि विष्णु भी निष्ठों-द्वारा संशयः स्वीकृत न होनेसे कारण ग्याय-वैशेषिकोंका परमाणुकारणवाद-मिद्वान्त वेदवाक्योक्ति अत्यन्त उचित है ।<sup>२</sup> यही आचार्य रघुनाथराम भी स्पष्ट-

१. 'सा चेयं वेदवाक्यधरकल्पनाऽनेकप्रकारा । केचिन्मान्ययोग्य-वाध्याः कल्पयन्ति प्रधानपुरुषवोरधिष्ठाना केचन निमित्तकारणमाधर इत्येतद्विनिर्भणाः प्रधानपुरुषेधरा इति ।' तथा वैशेषिकाद्वयोंनि केचिद्वयपिप्रत्यप्रक्रियानुसारं निमित्तकारणमाधर इति वर्णयन्ति ।'

२. (क) 'कर्मफलं मपरिकरामिजप्रदानृष्टं कर्मफलत्वात्, मेवाकल्य-निर्गि गीतमा दिगम्बरा ।'—भाष्यरघुनाथ टी० २-२-३०, पृ० ४८८ ।

(ग) कर्मफलं मग्नप्रज्ञादिमिजप्रदानृष्टं कर्मफलत्वात्, मेवाकल्य-वदिनि नैवायिक-दिगम्बरा ।'—भाष्यरघुनाथ टी० २-२-३०, पृ० ४८८ ।

३. 'अयं तु परमाणुकारणवादो न केचिद्विनि शिष्टैः केचिद्व्यप्येन परिगृहीत इत्यवयवमेवानादरणीयो वेदवादिभिः ।'

—वेदान्तसू० २-२-१०, पृ० ४४१ ।

भाष्यमें प्रकट किया गया है। वही कहा गया है कि वैशेषिक सिद्धान्त कुमुक्तियोंमें युक्त है, वेदविरुद्ध है और सिद्धेन्द्राचार्य अस्वीकृत है। अतः वह आदरणीय नहीं है।<sup>१</sup> इस विवेचनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आस्तिक और नास्तिककी उक्त परिभाषा स्वीकार करने पर न्याय और वैशेषिक दर्शन भी, जिन्हें आस्तिकदर्शन माना जाता है, आचार्य साङ्ख्यके अभि-  
प्रायानुसार नास्तिक दर्शन माने जायेंगे।

अगर यह कहा जाय कि जो ईश्वर सत्त्वको मानता है वह आस्तिक दर्शन है और जो उसे नहीं मानता वह नास्तिक दर्शन है तो यह परिभाषा भी ठीक नहीं है, क्योंकि आस्तिक दर्शनस्वेन अभिमत ब्रह्मिण-मात्स्य और भीमांश दर्शन भी नास्तिक दर्शन कहे जायेंगे, क्योंकि इनमें वेदको प्रमाण माननेपर भी ईश्वर सत्त्व स्वीकृत नहीं हैं। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार आचार्य साङ्ख्यने वैशेषिकादि दर्शनोंकी प्रकारान्तरण अवैदिक कहा है उसी तरह सांख्य विद्वान् विज्ञानभिधाने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध, वेदान्तिमुख आदि हीम-शब्दोंसे स्मरण किया है।<sup>२</sup> इसके विपरीत वेदान्तादि दर्शनोंमें जहाँ जैनादि दर्शनोंके सिद्धान्तका सङ्गठन किया है वही 'इति नास्तिकदर्शनिकाः' इत्यादिक्रमसे वहाँ भी उल्लेख देखनेमें नहीं आता। यहाँ तक कि 'तदपरे' 'इत्येके' जैसे परमत सूचक शब्दों तकका भी प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। केवल अन्य दार्शनिकोंका सिद्धान्त दिखाकर सङ्गठन किया है। जैसा कि इसी साङ्ख्य-भाष्यमें जैनदर्शनके सङ्गठनके प्रारम्भमें 'विषयनममय इदानीं निरस्यते' ऐसा कहकर ही उसका निरास किया गया है। यही 'यह नास्तिक दर्शनका सिद्धान्त है' ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शनोंको आस्तिक और नास्तिक इन दो विभागोंमें विभक्त करनेवाला कोई भी सर्वमान्य एवं अबाधित मापदण्ड नहीं है।

१. 'वैशेषिकसिद्धान्तो दुर्मुक्तियोगाद्देवलोपाधिप्राप्तिप्रहाय ना-  
पेक्षितस्य इत्युक्तम्।'—वेदान्तसू० शा० भा० २-२-१८, पृ० ४४२।

२. देखिए, सांख्यप्रवचनभाष्य.....।

यह निश्चित है कि जैन दर्शन अनेक भाषोंमें विभक्त भारतीय दर्शन-  
दिग्दर्शकों ही एक अनुरूप देदीप्यमान विज्ञान-ज्योति है। इस दर्शनकी  
निजी अनादि परम्परा है और इसमें तत्त्वोंका विचार बड़ी गम्भीरता  
तथा सूक्ष्मताको लिये हुए अनुभव और मननके साथ किया गया है।  
इसके तात्त्विक सिद्धान्त आधुनिक या मध्यकालिक नहीं हैं, प्रत्युत मुक्ति,  
प्रमाण और अनुभवार्क होकर अनादि परम्परामें अवतरित हैं तथा अज्ञा-  
नायकारको दूरकर अगत्को ज्ञानका दिव्य सन्देश देते हुए चले आ रहे  
हैं। यदि हम दर्शनके सिद्धान्त अगत्में सगत् प्रवाहित न होते तो वेदान्त  
दर्शनके 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' ( वे० ८० २-२-३३ ) इत्यादि सूत्रोंमें जैन  
दर्शनके प्रागभूत अनेकान्तवाद, सप्तमन्त्रोवाद आदि सिद्धान्तोंकी चर्चा  
न होगी। यही कारण है कि ऋषभदेव-जैसे तत्त्वोपदेष्टाओंका उल्लेख  
भागवत आदि वैदिक पुराणोंमें पाया जाता है। प्रकरणवशात् हमके  
दार्शनिक सिद्धान्तोंकी भी चर्चा वैदिक पञ्चपुराणादि ग्रन्थोंमें देखनेमें आनी  
है। इतना ही नहीं, किन्तु जैन धर्मके सारभूत 'अहिंसा' धर्मका संकीर्तन  
महाभारतमें यत्र-तत्र देखनेमें आता है। पूर्वोक्तिस्थित श्लोकमें जैन-धर्मकी  
अहिंसाकी ही स्थापना है। महाभारतमें एक स्थलपर पितामह भीष्म  
धर्मराज युधिष्ठिरको उपदेश देते हुए अहिंसाकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते  
हैं और उसे परम धर्म, परम तप तथा परम सत्य बतलाते हैं<sup>१</sup>। महर्षि  
पतञ्जलिने भी योगसूत्रमें<sup>२</sup> योगके साधनीभूत यम-नियमादिमें सर्वप्रथम

१. देखिए, 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' ( २-२-३३ ) हम सूत्रका माध्य  
पृ० ४८०।

२. अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परमं तपः।

अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥

—महामा० अनुशा० ५०, ११५ अ०, २३ श्लोक

३. 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'

—योगसू० २-३०

इस अहिंसा धर्मका ही निर्देश किया है। इस अहिंसाप्रतको अपनाये बिना अन्य सत्य, अस्तेयादि अङ्गोंकी सिद्धि नहीं हो सकती, इस बातको भी उक्त सूत्रके व्यास-भाष्यमें स्पष्ट कर दिया है<sup>१</sup>। अहिंसा-विजयीके विषयमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि अहिंसामें प्रतिष्ठित योगीके निकट सभी विरोधो प्राणियोंका परस्पर वैरत्याग हो जाता है<sup>२</sup>। स्थूल विचारसे जिस किसी एक जीवके वधको एक हिंसा कहा जाता है। किन्तु शास्त्रमें एक ही जीवकी हिंसाके सूक्ष्मदृष्टिसे ८१ भेद बतलाये गये हैं<sup>३</sup>। जैन-धर्ममें इससे भी ज्यादा सूक्ष्मतासे हिंसाका विचार किया गया है और उसके १०८ और असंख्य भेद गिनाये गये हैं<sup>४</sup>। यथार्थमें हिंसाका अर्थ केवल हनन

१. 'अपरे च यमनियमास्ताम्भूलास्तस्मिन्निपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते ।'

—व्यासभाष्य योगसू० २-३

२. 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्तन्निधौ वैरत्यागः ।'

१

३. 'वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःसाहानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।'

—योगसू० २-३५

४. 'तत्र हिंसा तावत्—कृता कारिताऽनुमोदितेति त्रिधा । एकैका पुनस्त्रिधा । लोभेन मांसधर्माधेन क्रोधेनावकृतमनेनेति मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति । लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिधा मृदुमध्याधिमात्रा इति । एवं सप्तविंशतिभेदा भवन्ति हिंसायाः । मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा—मृदुमृदुमध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति । तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति । तथा मृदुलोभो मध्यलोभोऽधिमात्रलोभ इति । तृयमेकार्शति-भेदा हिंसा भवति ।'

—व्यासभाष्य २-३४

५. देखिए, सत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धि ६-८ । आलोचना-पाठगत निम्न पद्य :

करना हो नहीं है, अविनु मन, वचन और शरीरसे परपीडन ही हिंसा है, ऐसा साहचर्योंका स्पष्ट अभिप्राय जाना जाता है। यही कारण है कि जैन-धर्मके नरवोपदेष्टाओंने हिंसाको श्रेयका अवरोधक और अनिष्टका कारण समझकर उसका विरोध करते हुए सब धर्मोंके सारभूत 'अहिंसा परमो धर्मः' का सदुरादेश दिया। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्तियोंके 'मर्म' अस्तिदं ब्रह्म' इस अत्यपरिमाणवाले वेदान्तमहावाक्यार्थमें समस्त वेदान्त का तात्पर्य निहित है उसी प्रकार जैन तीर्थङ्करोंसे अत्याहुत 'अहिंसा परमो धर्मः' इस लघुकाय वाक्यार्थमें यावद्वर्माका समावेश हो जाता है। इस अप्यारम अहिंसा धर्मको न समझनेके कारण आज भौतिक विज्ञानकी वरम सीमा तक पहुँचे हुए तथा चन्द्रलोकान्त उड़ानके अव्यर्थ आशावादी कल्पित पश्चिमी राष्ट्रोंमें अज्ञान्तिकी अग्नि धबक रही है। केवल एक अहिंसावादी भारत ऐसा राष्ट्र ही पञ्चवीसके सिद्धान्तानुसार परस्पर शान्तिसे रहनेकी घोषणा कर रहा है। दासताकी कठोर बेड़ीसे निगड़ित भारतराष्ट्रके स्वातन्त्र्यके लिए महारमा गाँधीने भी इस अमोघ अहिंसा-अस्त्रको उठानेका उपदेश दिया था, जिसका सुन्दर परिणाम सबके सम्मुख है। इस अहिंसा धर्मके विषयमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर यहाँ इसपर अधिक कहना एक प्रकरणान्तर हो जायगा। यहाँ इसपर चर्चा करनेका इतना ही अभिप्राय है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवसे लेकर चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीरपर्यन्त जैन तत्त्वद्रष्टाओंने किस प्रकार अनुमन और मननपूर्वक अहिंसा, अनेकान्त-जैसे उदात्त सिद्धान्तोंका अवलोकन

संरम्भ ममारम्भ आरम्भ, मन वचन तन कर्मे प्रारम्भ ।

कृत कारित मोदन करिके, क्रोधादि चतुष्टय धरिके ॥

शत भाठ छु इन भेदन तैं, अघ कोने परछेदन तैं ।

संरम्भ-ममारम्भ-आरम्भ<sup>३</sup> × मन-वचन-काय<sup>३</sup> × कृत-कारित-अनुमो-  
दना<sup>३</sup> × क्रोध-मान-माया-लोभ<sup>४</sup> = ३ × ३ × ३ × ४ = १०८ हिंसाभेद ।



कर जगत्को सम्पद्दर्शन, सम्पत्पान और सम्पद्व्यापारिके त्रिरत्न-मार्गसे<sup>१</sup> लोकाकाश पर्यन्त निःश्रेयस (मोक्ष) में पहुँचानेका प्रस्ताव प्रयत्न किया। उक्त मार्गकी अनेक सोपानोंमें एक सुन्दर सोपान यह 'अहिंसा परमो धर्मः' का उपदेश भी है।

यद्यपि भारतीय दर्शनोंकी परम्परा अनादि कालसे प्रवाहित है तथापि ज्ञान-तत्त्वके उपदेशक जिन महात्मनीयोंने अनादि परम्परा प्रचलित जित मार्ग व तत्त्वोंको सचकी कसौटीपर परखकर अनुभवसे उनके असंदिग्ध स्वरूपका निर्णय किया तथा बुद्धिद्वान्निसे सन्तुष्ट चामर-प्राणिमोंकी मोक्षारम्भ-शान्तिपद प्राप्त करके लिए जो आगमोपदेश दिया वह उन रत्नत्रयादि आचारनिष्ठ लौकिक व्यवहारातीत एवं जीवन्मुक्तकी स्थितिकी प्राप्त हुए तीर्थङ्गरोके नामसे प्रसिद्ध हुआ। जैसे महर्षि कपिलप्रोक्त कापिल या सांख्यदर्शन, कणादकथित काणाददर्शन, पतञ्जलिप्रोक्त पातञ्जलदर्शन, अक्षपाद गौतम प्रतिपादित गौतमदर्शन कहे गये और इन मामोंसे वे प्रसिद्ध हुए। इसी तरह अहंन् या जिनके<sup>२</sup> द्वारा प्रवर्णित

१. 'सम्पद्दर्शनज्ञानचारिप्राणि मोक्षमार्गः।' -तत्त्वार्थसू० १-१।

२. जैन परिभाषाके अनुसार अहंन् या जिन कोई नित्य-सिद्ध, अनादि मुक्त एक परमात्मा नहीं है। किन्तु मोक्षमार्गका उपदेशक, सर्वज्ञ और कर्मभूतलोकका भेदा सादिमुक्त आत्मा ही परमात्मा है। ऐसे आत्मा ही मुक्ति और मुक्तिमार्गका उपदेश देते हैं। वे जीवन्मुक्त-जैसी दशामें स्थित होते हैं। रागादि दोषोंके क्षीण हो जानेके कारण 'वीतराग', भूत, मविष्यद् और वर्तमान तथा सूक्ष्म, स्पष्टवर्ण और विमलरूप पदार्थोंको साक्षात्कार करनेसे 'सर्वज्ञ', सत्यके पूजनीय होनेसे 'अहंन्', मत्तनशील होनेसे 'मुनि', कामविजयी होनेसे 'जिन' और आगमका उपदेश करने से 'तीर्थङ्कर' आदि शब्दोंसे अख्यायत होते हैं। ऐसे अहंन् मुनियोंके साक्षात्कार और तत्त्वज्ञानमें भेद नहीं होता। इस अर्थमें प्रविष्ट सभी

दर्शन जैन दर्शन है । इन तरवदर्शी अहंनोंमें ब्रह्मादि जैसे तत्त्वज्ञानियों-  
की ओरसे यह विशेषता पायी जाती है कि सभी अहंनोंके तत्त्वज्ञान और  
तत्त्वोपदेशमें कोई मतभेद नहीं होता । जब कि इनमें धार्मिकों और  
दर्शनप्रवर्तकोंमें यह देखा जाता है । उदाहरणके लिये जीवकी कोई  
धनु मानते हैं तो कोई बिम्ब स्वीकार करते हैं । कोई ( ब्रह्मादि )  
आत्माकी ज्ञानस्वरूप प्रतियोगन करने हैं तो कोई ईश्वरवादि जगत्  
समवायने ज्ञानगुणवाला बननाते हैं । पर, जैन तत्त्वोपदेशोंके  
निदानोंमें कोई अन्तर नहीं पाया जाता । हाँ, आधारकी ओरसे उनके  
अन्तर स्वभाववादि सम्प्रदायोंमें यह कुछ देखा जाता है । बिम्ब वह  
धार्मिक भेद नहीं है । वेद-आयमानुसार आधार-प्रणालीका भेद है ।  
धार्मिक दृष्टिमें जीव, कर्मगुणल, वायु, मोक्ष, गृष्टि, पदार्थसंख्या,  
प्रमाणसंख्या, सादिमुक्त ईश्वरवाद, अनेकान्त, स्याद्वाद, गुणभङ्गीवाद आदि  
निदानोंके बारेमें कोई तात्त्विक भेद उनमें नहीं है । इसी तरह गूढम  
पदार्थोंके विषयमें भी सभी अहंनोंकी एक ही तात्त्विक प्रकृति है । इस  
विशेषनसे प्रकट है कि जैनदर्शन नास्तिक दर्शन नहीं है ।

दर्शनोंके आस्तिक और नास्तिक भेदके विषयमें यहाँ तक जो विचार  
किया गया है उससे स्पष्ट है कि आस्तिक और नास्तिकके भेदका कोई  
ऐसा आधार उपलब्ध नहीं है जो भक्ति तथा प्रमाणसे सिद्ध हो और सर्व-

अहंन् या जिन एक ही स्थितिमें होते हैं । इस कारण सिद्धा भी सर्वज्ञ-  
अहंन्-द्वारा कहा गया आगम जैन आगम या जैन दर्शन या आहंन  
दर्शन कहा जाता है । यह स्मरणीय है कि जो अहंन्त तीर्थंकर कर्मके  
कारण संसारके लिये कल्याणका उपदेश देने हैं वे तीर्थंकर कहे जाते हैं ।  
सभी अहंन् तीर्थंकर हैं, ऐसी बात नहीं है और इसलिये ऐसे तत्त्वोपदेश  
तीर्थंकर प्रत्येक काल ( अवसरिणी और अमरिणी ) में २४ ही होते हैं ।

मान्य हो। वह केवल साम्प्रदायिक दृष्टिसे कल्पित हुआ है। प्राचीन दर्शन-ग्रन्थोंमें वह दृष्टिगोचर नहीं होता।

### श्रौत और श्रौतेतर दर्शन :

भारतीय दर्शनोंके विभागपर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय दर्शनोंकी दो श्रेणियाँ हैं : एक श्रौत दर्शन और दूसरी श्रौतेतर दर्शन। जिसमें श्रुतिको प्रधान एवं प्रमाण मानकर तत्त्व प्रतिपादित है वह श्रौतदर्शन श्रेणी है। दूसरी श्रौतेतरदर्शन श्रेणी वह है जिसमें विशिष्ट व्यक्तिके अनुभव तथा तर्कोंको प्रधान एवं प्रमाण मानकर तत्त्वोंका विवेचन है। प्रथम श्रेणीमें श्रुतिके आधारसे प्रतिष्ठित सांख्य, म्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त दर्शन सम्मिलित हैं और द्वितीय श्रेणीमें जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन गणित हैं। इन दोनों श्रेणियोंको क्रमशः वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शनके नामसे भी उल्लेखित किया जा सकता है। इस विभाजनमें उपर्युक्त कोई आपत्ति नहीं है और न किसी दर्शनके प्रति संकुचितता या असम्मान ही प्रकट होता है।

### भारतीय दर्शनोंमें परस्पर भूयःसाम्य :

भारतीय दर्शन अनेक भेदोंमें विभक्त भले ही हों, किन्तु चार्वाक और दून्यवादी दर्शनोंको छोड़कर अन्य सभी दर्शनोंका आत्मवादमें विवाद नहीं है। निरात्मवादी बौद्धोंमें भी योगाचारादि सम्प्रदायमें दार्शनिक-विज्ञान-सन्तानको आत्मरूपसे स्वीकार किया है और उसके आलय-विज्ञान तथा प्रवृत्ति-विज्ञान ये दो भेद भी माने गये हैं। एवं अविद्या-वासनाके विनाश होनेपर दीप-निर्वाणकी तरह आत्म-निर्वाण—निराश्रय-चित्तसन्ततिका उत्पादक मोक्ष भी माना है। भारतीय दर्शन जिस मूल-भित्तिपर खड़ा है वह यही आत्मवाद है। यह आत्मवाद भारतीय दर्शनका प्राणभूत है। आत्माके पुण्यापुण्यकर्म, उसका आवागमन, बन्ध, कर्मवशात् नानायोगि, मोक्ष, तत्साधन, तत्त्वज्ञानादि सिद्धान्तोंमें भी भारतीय दर्शनोंका परस्पर

ऐसा है। इन सभी दर्शनोंका एक मात्र उद्देश्य कर्मव्यवहारके भोगमें पड़े हुए बौद्धों को सम व्यवहारमें मुक्त कराना और मोक्ष दिलाना है। इस उद्देश्यमें कोई अन्तर नहीं है, चाहे वह श्रौत दर्शन हो, चाहे अर्थशास्त्र-मुनि, परम्परा प्राप्त दर्शन हो। यह दूसरी बात है कि भारतीय दार्शनिकोंका जीवनके स्वयं, धार्मिकव्यवहार, मोक्षस्वयं, तत्त्वज्ञान, प्रमाणसंख्या आदिके विषयमें परस्पर निरालस मतभेद है। और हम मतभेदका कारण है आत्मा, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बन्ध-मोक्ष आदि आत्मसम्बन्धी मान्यताओंकी अत्यन्त सूक्ष्मता और दुर्बलता। ये सब हस्तामन्दस्वयं प्रदर्शित नहीं किये जा सकते और न वे स्ववृद्धिजन्य तर्कसे भी जाने जा सकते हैं। ऐसे दुर्बल एवं अविश्वसनीय भावों ( वस्तुओं ) के बारेमें महामात्रमें कहा है कि जो अविश्वसनीय तत्त्व है उनकी निम्न अल्पता अपने तर्कसे करनेका प्रयत्न न करें।

**भारतीय दर्शनोंका प्रयोजन : तत्त्वज्ञानप्राप्ति :**

हम भी दर्शनशास्त्र तत्त्वोंका ज्ञान करनेमें साधन है। विभिन्न व्यक्तिगत, विभिन्न तर्क और अनुमानादि प्रमाण उसमें प्रदर्शित किये जाते हैं और इन सबके आधारसे उनका हमें यथार्थ ज्ञान होता ही है। उक्त श्रुति तत्त्वोंका भी ज्ञान तत्त्वदर्शी, अनुभवी और परानुवृत्ति जीवनमूलक तत्त्व-दृष्टाओंके कल्याणकारी अनुपदेश तथा शास्त्रोंसे हो सकता है। शास्त्रों और तत्त्वज्ञानके अनुभवोंमें भेद देखनेमें जानेसे कौन-सा शास्त्र, कौन-सा सम्प्रदाय, किस धर्म और किस तत्त्वज्ञानीको प्रमाण माना जाये, इसका निर्णय मनुष्य अपने प्राक्खनवर्मानुसार प्राप्त अदृष्ट, संस्कार, जन्म, वृद्धि, विद्या, बुद्धि आदि उपकरणोंसे ही कर सकता है। ये उपकरण ही उसे किसी-न-किसी सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको माननेके लिए बाध्य किये रहते हैं। अभिप्राय यह

१. 'अविश्वसनीयः वस्तु ये आत्मा न नास्तिर्केन योजयेत्।'

—महामा. भा. ५-१२।

है कि प्रारम्भिक दशामें जब मनुष्य अज्ञात रहता है तो उसके सामने किमी भी सम्प्रदायके उचितानुचितका निर्णय करनेका कोई भी साधन नहीं रहता। परिशेषान् और अत्यन्त निकट होनेसे उसे वही सम्प्रदाय या धर्म स्वीकार कर लेना पड़ता है, जिसमें उसका जन्मसे ही सम्बन्ध रहता है। व्यवहारानुसार उनके संस्कार भी उस सम्प्रदाय या धर्मके अनुसृत हुए होते जाते हैं। इस तरह मनुष्य अपने-अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तोंके अनुसार प्रवृत्ति करता है और उन्हें माननेमें बद्धपरिवर होता है। सम्प्रदायोंका और उनके सिद्धान्तोंका भेद तत्तत् सम्प्रदायके आगमोंके उप-देष्टा आचार्योंके अनुमवपर आधित होता है। इन्द्रियातीत चेतनात्मक मूलमतरङ्गोंमें अवृष्टवत् दृष्टिभेद होना नैसर्गिक है। इस प्रकार अपनी प्राप्त दृष्टिके अनुसार सभी दर्शन-प्रवक्तृ अपने दर्शनोंमें तत्त्वोंका उपदेस देते हैं। यह तत्त्वभेद ही दर्शन-भेदका कारण होता है। इन तत्त्वदर्शियोंके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोंका अनुसन्धान, जो दर्शन या ज्ञान कहा जाता है, और उसके विषयभूत पदार्थोंकी सिद्धि भी प्रमाणाधीन है। इससे हम यह सहज में जान सकते हैं कि भारतीय दर्शन तत्त्वज्ञानके श्रोत है और तत्त्वज्ञान निःशेष्यताका कारण है।

**तत्त्वज्ञानका आधार : प्रमाण :**

स्वीकृत सिद्धान्तोंकी रक्षा और तत्त्व-व्यवस्थाके लिए प्रमाणका मानना आवश्यक तथा अनिवार्य है। सभी दर्शनकारोंने प्रमाणको स्वीकार किया है। परन्तु उसके स्वरूप, संख्या, विषय और फलके सम्बन्धमें उनमें ऐक्य नहीं है। इतना होते हुए भी सभीने उसे तत्त्वज्ञानका अत्यन्धिष्ठ उपाय बतलाया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि तत्त्वकी व्यवस्था प्रमाणसे होती है तो प्रमाणकी व्यवस्था कैसे होगी ? यदि प्रमाणकी व्यवस्थाके लिए अन्य प्रमाण माना जाये तो उस अन्य प्रमाणकी प्रतिष्ठान्तके लिए अन्य तृतीय प्रमाण स्वीकार किया जायेगा और इस तरह कही भी विधान्ति न होनेके कारण अनवस्था होप जाता है। अगर कहा जाये कि प्रमाणान्तरके

बिना ही प्रमाणकी व्यवस्था हो जाती है तो तत्त्वकी व्यवस्था भी स्वतः हो जाये, तबकी सिद्धिके लिए प्रमाणका मानना भी निरर्थक है ? इस प्रश्नका समाधान जैन दार्शनिकोंकी दृष्टिमें इस प्रकार है कि प्रमाणको प्रदीपकी तरह स्वयं-पर व्यवस्थापक माना गया है । जिस प्रकार प्रदीप अन्य पदार्थोंका प्रकाशन करता हुआ अपना भी प्रकाशन करता है—उसके प्रकाशनके लिए प्रदीपान्तरकी आवश्यकता नहीं होती उसी तरह प्रमाण भी प्रमेयकी व्यवस्था करता हुआ अपना भी व्यवस्थापक है—उसकी व्यवस्था के लिए प्रमाणान्तरकी जरूरत नहीं होती । हाँ, प्रमाणके प्रामाण्यकी उत्पत्ति तथा शक्तिको लेकर दार्शनिकोंमें बहुत मतभेद है । कोई उसे स्वतः, कोई परतः और कोई स्वतः परतः स्वीकार करते हैं । किन्तु प्रामाण्यके अर्थाव्यभिचारित्वस्वरूपके विषयमें प्रायः सब एकमत है । प्रमाणने जिस अर्थको जाना है वह अर्थ यदि है तो वह प्रमाण है और यदि उसका जाना हुआ वह अर्थ उपलब्ध नहीं है तो वह अप्रमाण है । अतः प्रमाणके प्रामाण्यकी कसौटी उसका अर्थाव्यभिचारित्व है । इससे विदित है कि तत्त्वज्ञानका आधार एक मात्र प्रमाण है ।

### प्रमाण-चर्चा :

इस प्रमाणकी चर्चा प्रत्येक दर्शनने की है । उसका स्वरूप क्या है ? उसके कितने भेद हैं ? उसका फल क्या है और विषय क्या है ? इन प्रश्नों पर सभीने विचार किया है और अपने अनुभव, तर्क तथा बुद्धिसे उनका निर्धारण किया है । इस विषयमें भारतीय दार्शनिकोंका परस्पर भारी मत-भेद है । हम पहले कह आये हैं कि भारतीय दर्शन श्रुति और आचार्योंके अनुभव, तर्क एवं युक्ति इन आधारोंका अवलम्बन कर श्रुत दर्शन और तीर्थङ्करानुसंगीत दर्शन इन दो भागोंमें विभक्त है । इन दर्शनोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य परम्परा प्रमाणोंकी संख्या मानी गयी है । इससे अधिक इङ्गितादि भी

कुछ सम्प्रदायोंमें मान्य है। प्रत्यक्ष लेकर अनुपलब्धिपर्यन्त छह प्रमाण भट्टानुयायी मीमांसकोंको मान्य है, 'अवहारे भाट्टनयः' इस नीतिके अनुसार अद्वैतवेदान्तियोंको भी ये ही छह प्रमाण स्वीकृत हैं। प्रभाकरानुयायी मीमांसक अनुपलब्धिको छोड़कर अर्थापत्तिपर्यन्त पाँच ही प्रमाण मानते हैं। उपमानतक चार प्रमाण नैयायिकोंको मान्य हैं। सादृश्यतक तीन प्रमाण सांख्य-योग दर्शनमें स्वीकृत हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण वैशेषिक तथा बौद्ध दोनों दर्शनोंमें माने गये हैं। केवल एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण अत्यन्त स्थूल पदार्थवादी चार्वाक दर्शन स्वीकार करता है। प्रमाणों की संख्याकी तरह उनके स्वरूपमें भी दार्शनिकोंमें मतभेद है। इन सबका विशेष अध्ययन इन दर्शनोंके दर्शन-ग्रन्थोंसे किया जा सकता है।

**जैन दर्शनमें प्रमाण-व्यवस्था :**

सत्य-जिज्ञासुओंको जिज्ञासा ही सकती है कि जैनदर्शनमें प्रमाणका स्वरूप क्या है ? उसके कितने भेद माने गये हैं ? उसका फल और विषय क्या है ? जैनदर्शनमें इन प्रश्नोंपर विस्तारके साथ ऊहापोह किया गया है। जैनाचार्योंकी मान्यता है कि इन्द्रिय या इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रमाण नहीं हो सकता। किन्तु अन्वय-व्यतिरेकसे स्वार्थपरिच्छेदी ज्ञानको ही प्रमाण माना जा सकता है। इन्द्रिय, और सन्निकर्षादि-सामग्रो-समवधान-दशामें भी ज्ञानके अभावमें वस्तुकी परिच्छिन्ति नहीं होती। इस कारण अपना और अन्यका सम्यक् निश्चय करानेवाले ज्ञानको ही प्रमाण कहा जा सकता है। यह प्रमाण दो भागोंमें विभक्त है—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष और व्यस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहा गया है। यह ज्ञातव्य है कि अन्य तान्त्रिकोंके द्वारा अभिमत अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, प्रातिम, ऐतिह्य आदि प्रमाणोंका अन्तर्भाव प्रमाणके दूसरे भेद

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।—परीक्षामु० १-१ ।

२. 'तद् द्वेधा,' 'प्रत्यक्षोत्तरभेदात्'—परीक्षामु० २-१, २ ।

परोक्षमें हो हो जाता है क्योंकि ये सभी ज्ञान इन्द्रियादिकी सहायता लेकर उत्पन्न होनेके कारण अस्पष्ट है। इस परोक्ष प्रमाणमें ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क-जैते अन्य कितने ही प्रमाणोंका समावेश हो जाता है। वास्तवमें जैन दार्शनिकोंकी यह विशेषता है कि उन्होंने इतनी व्यापक, किन्तु अपने में सीमित परोक्ष-प्रमाणकी परिभाषा बनायी कि जगमें इन्द्रियादि सापेक्ष सभी प्रमाण समा जाते हैं। इस परोक्ष प्रमाणके जैन विद्वानोंने पाँच भेद माने हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और भागम। प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं : १ साध्यवहारिक और २ पारमायिक। इन्द्रिय और मनकी ओझाकर होनेवाले एकदेश निर्मल ज्ञानको साध्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। यह ज्ञान प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप संबधवहारका कारण होता है, इस लिए इसका नाम साध्यवहारिक है। स्वल्प निर्मलता युक्त होनेसे यह ज्ञान प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। पर वास्तवमें इन्द्रियादिकी सहायता सापेक्ष होनेसे यह साध्यवहारिक ज्ञान परोक्ष ही है। दूसरा पारमायिक प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रियोंकी सहायता रहित है, पूर्णतया निर्मल है और द्रव्य, क्षेत्र, कालादि सामग्रीकी परिपूर्णतासे जिनके आवरण दूर हो गये हैं। ऐसा ज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष या पारमायिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस प्रकारका निःसीम प्रत्यक्षज्ञान, जिसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं और न इन्द्रियोंकी पट्टा-मशकी अपेक्षा होती है, विकालदर्शी अहंस्तोको ही होता है। अशतः व्यवहारदत्तामें वह मोक्षियोंको भी होता है, पर वह विकलपारमायिक प्रत्यक्ष है। सकलपारमायिक प्रत्यक्ष केवल अहंस्तोको होता है। निष्कर्ष यह कि विशद ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है और दूसरे ज्ञानों या इन्द्रियादि सामग्रीकी सहायता लेकर होनेवाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान व परोक्ष प्रमाण ॥। ये दोनों ही प्रमाण प्रदीपकी तरह स्वपरप्रकाशक हैं और अज्ञानके निवर्त्तक एवं हेयोपादेयोपेक्षाधुनिक जनक होनेसे सफल हैं तथा प्रमेयार्थके निश्चयक हैं। जैनदर्शनमें अहाँ विस्तारपूर्वक प्रमाणका निरूपण किया गया है वहाँ उसके विषयका भी विशद विवेचन उपलब्ध होता है।



कुछ सम्प्रदायोंमें मान्य है। प्रत्यक्षसे लेकर अनुपलब्धिपर्यन्त छह प्रमाण भट्टानुयायी भीमांसकोंको मान्य है, 'व्यवहारे भाट्टनयः' इस नीतिके अनुसार अद्वैतवेदान्तियोंको भी ये ही छह प्रमाण स्वीकृत हैं। प्रभाकरानुयायी भीमांसक अनुपलब्धिको छोड़कर अर्थापत्तिपर्यन्त पाँच ही प्रमाण मानते हैं। उपमानतक चार प्रमाण नैयायिकोंको मान्य हैं। शब्दपर्यन्त तीन प्रमाण सांख्य-योग दर्शनमें स्वीकृत हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण वैशेषिक तथा बौद्ध दोनों दर्शनोमें माने गये हैं। केवल एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण अत्यन्त स्थूल पदार्थवादी चार्वाक दर्शन स्वीकार करता है। प्रमाणों की संख्याकी तरह उनके स्वरूपमें भी दार्शनिकोंमें मतभेद है। इन सब विशेष अध्ययन इन दर्शनोके दर्शन-ग्रन्थोंसे किया जा सकता है।

**जैन दर्शनमें प्रमाण-व्यवस्था :**

तत्त्व-जिज्ञासुओंको जिज्ञासा हो सकती है कि जैनदर्शनमें प्रमाणों का स्वरूप क्या है? उसके कितने भेद माने गये हैं? उसका फल और विषय क्या है? जैनदर्शनमें इन प्रश्नोंपर विस्तारके साथ ऊहापोह किया गया है। जैनाचार्योंकी मान्यता है कि इन्द्रिय या इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रमाण नहीं हो सकता। किन्तु अन्वय-व्यतिरेकसे स्वार्थपरिच्छेदी ज्ञानको ही प्रमाण माना जा सकता है। इन्द्रिय, और सन्निकर्षादि-सामग्रो-समवधान-दशामें भी ज्ञानके अभावमें वस्तुकी परिच्छिन्नता नहीं होती। इस कारण अपना और अन्यका सम्मन्ध निश्चय करानेशाले ज्ञानको ही प्रमाण कहा जा सकता है। यह प्रमाण दो भागोंमें विभक्त है—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष और अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहा गया है। यह ज्ञातव्य है कि अन्य तात्त्विकोंके द्वारा अभिमत अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, प्राप्ति, ऐतिहासिक आदि प्रमाणोंका अन्तर्भाव प्रमाणके दूसरे भेद

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।—परीक्षामु० १-१।

२. 'तद् द्वेधा,' 'प्रत्यक्षेतरमेवाह'—परीक्षामु० २-१, २।

## सम्पादकीय

### प्रस्तुत ग्रन्थ और उसका सम्पादन :

अक्तूबर सन् १९४४ में कलकत्तामें बीरसासन-महोत्सव मनाया गया था। इसका आयोजन बीरसेवामन्दिर<sup>१</sup>, सरसाबा (सहारनपुर) की ओरसे उगये अध्यक्ष बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ताके प्रयत्नोंसे हुआ था। उस समय हम इसी संस्थामें घोष-कार्य करते थे और इसलिए हमें भी उसमें सम्मिलित होनेका अवसर मिला था। वहाँसे लौटते समय संस्थाके संस्थापक आचार्य पण्डित जुगलकिशोरजी मुस्तारके साथ एक दिनकी आरा दफ गये थे। बहुत दिनसे मेरी इच्छा वहाँकी सुप्रसिद्ध साहित्यिक संस्था—जैन सिद्धान्त भवनकी देखनेकी बनी हुई थी। भवनके विद्याल ग्रन्थ-भण्डारकी देखते समय हमें उसमें जैन न्याय-शास्त्रकी कई अप्रकाशित रचनाएँ दृष्टिगोचर हुईं। उनमें-से कुछ रचनाएँ मैं सम्पादनके लिए अपने साथ लेता आया। दो-तीन ग्रन्थोंकी पाण्डुलिपियाँ भी मैंने उसी समय कर ली थीं। पर उनमें-से किसीके सम्पादनका अवसर उस समय अन्य प्रवृत्तियोंमें सलग्न रहनेके कारण मुझे न मिल सका। प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकलिका उन्हीं पाण्डुलिपियोंमें-से एक है और जिसका सम्पादन अब हो सका है।

गत वर्ष सन् १९६० के जूनमें जब थड्डेय मुस्तार साहबके साथ बनेक विद्या-प्रतिष्ठानोंके प्रतिष्ठाता एवं अभीष्टज्ञानोपयोगमें निरत पूज्य श्री मुनि गमन्तभद्रजी महाराजके पाद-सान्निध्यमें बाहुबली (कोल्हापुर) जनेका स्वर्णविशर प्राप्त हुआ, तो वहाँ प्रख्यात साहित्य-सेवी डा० ए. एन. उपाध्येसे भेंट हो गयी। साहित्यिक-वर्चा करते समय

१. यह संस्था अब दरियागंज, देहलीमें आ गयी है।—सं०।

## प्रस्तुत श्रुति :

अपने अभिमत दर्शनके सिद्धान्तोंको विवेचना करना प्रत्येक दार्शनिक को अत्यावश्यक होता है। प्रमाण-परिष्कारके बिना स्वाभिमत दर्शनके तात्त्विक सिद्धान्तोंकी स्थापना असम्भव है, इत्यादि अभिप्रायसे हो जैन-दार्शनिक श्रीनरेन्द्रसेनने 'प्रमाणप्रमेयकलिका' नामका यह लघुकाय प्रमाण-ग्रन्थ निमित्त किया है। विद्वान् ग्रन्थकारने इसमें अतिशयोक्तिमें दर्शनशास्त्र के प्रधान विषय प्रमाण और प्रमेयतत्त्वको सुनिश्चित एवं विचार विवेचना की है। निःसन्देह श्रीनरेन्द्रसेनकी यह भारतीय-दर्शनसाहित्यको अनुपम देन है। इसके प्रकाशनसे जैन-दर्शनके प्राथमिक जैन तथा जेनेतर सभी अभ्यासियोंको बड़ा लाभ पहुँचेगा। मेरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ पूर्व पक्षके रूपमें कथित इतर दार्शनिकोंके अभिमत प्रमाण-प्रमेयसिद्धान्तों और उत्तर-पक्षके रूपमें प्रतिपादित जैन दर्शनके प्रमाणादि सिद्धान्तोंका ज्ञान करानेमें भली-भाँति समर्थ है। यह जैनदर्शनके तत्त्वोंके जिज्ञासुओंके लिए ही नहीं, किन्तु इतर दार्शनिकोंके लिए भी उपादेय है।

हिन्दू विश्व-विद्यालयके संस्कृत-महाविद्यालयमें जैनदर्शनके प्राध्यापक श्री वरधारीलाल जैन कोटियाने आधुनिक शैलीसे इसका योग्यताके साथ सम्पादन करके और अपनी संतुष्टपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनामें इसके प्रतिपाद्य विषयोंपर ऐतिहासिक दृष्टि तथा विषयक्रमका अनुसरण करते हुए प्रकाश बालकर इसे और भी अधिक उपादेय बना दिया है। आशा है यह कलिका अपने ज्ञान-सौरभसे विद्वानोंके मन-मधुकरको मुग्ध करेगी।

काशीन कृष्णा १ वि.स. २०१८,  
१९-२-६२

}

हीरावल्लभ शास्त्री  
अध्यक्ष, दर्शन-विभाग  
हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी

## सम्पादकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ और उसका सम्पादन :

अक्तूबर मन् १९४४ में कलकत्तामें बीरमागन-महोदय बनारस गया पा । इनका भाषाज्ञान बीरमेवामन्दिर, गरसावा ( महारनपुर ) की औरमें उनके अभ्यस्त बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ताके प्रयत्नमें हुआ पा । उन समय हम इसी संस्थामें घोष-चार्य करते थे और इसलिए हमें भी उनमें सम्मिलित होनेका अवसर मिला पा । बहुतों लौटते समय संस्थाके संस्थापक आचार्य मण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारके साथ एक दिनकी भारा एक गये थे । बहुत दिनसे मेरी इच्छा वहाँकी सुप्रसिद्ध साहित्यिक संस्था—जैन मित्रान्त भवनकी देखनेकी बनी हुई थी । भवनके विद्यालय-भण्डारकी देखते समय हमें उनमें जैन ग्याय-चार्यकी कई अप्र-काशित रचनाएँ दुष्टिगोचर हुई । उनमेंमें कुछ रचनाएँ मैं सम्पादनके लिए अपने साथ लेता आया । दो-तीन ग्रन्थोंकी पाण्डुलिपियाँ भी मैंने उसी समय कर ली थीं । पर उनमेंमें किसीके सम्पादनका अवसर उस समय अन्य प्रदु-तियोंमें गलत रहनेके कारण मुझे न मिला सका । प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकलिका उन्ही पाण्डुलिपियोंमेंसे एक है और जिसका सम्पादन अब हो सका है ।

मन वर्ष मन् १९६० के जूनमें जब भट्टेय मुख्तार साहबके साथ अनेक विद्या-प्रतिष्ठानोंके प्रतिष्ठाना एवं अभीष्टज्ञानोपयोगमें निरत पूज्य श्री मुनि गमस्तभद्रजी महाराजके पाद-आश्रित्यमें बाटुवली ( कोन्हा-पुर ) जानेका स्वर्णवसर प्राप्त हुआ, तो वहाँ प्रख्यात साहित्य-सेवी डा० ए. एन. उपाध्येसे भेंट हो गयी । साहित्यिक-वर्चा करते समय

१. यह संस्था अथ दूरिषागंज, पेरलीमें था गयी है ।—सं

उपाध्येजीने मुझे माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालाके लिए उक्त प्रमाणप्रमेयकलिका के सम्पादनकी प्रेरणा की। फलतः वह अब इस ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो रही है।

### प्रति-परिचय :

हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं कि आरम्भमें हमे आरा-भवनकी ही एकमात्र प्रति प्राप्त हुई थी। इसके बाद धर्मपुरा, दिल्लीके नया मन्दिर स्थित शास्त्र-भण्डारसे भी इसकी एक प्रति और मिल गयी। यह प्रति आरा-प्रतिकी मातृ-प्रति है—इसीपरसे उसकी प्रतिलिपि हुई है और आरा-प्रतिसे लगभग सवा-सौ वर्ष पुरानी है। ग्रन्थके सम्पादनमें हमने इन दोनों प्रतियोंका उपयोग किया है। उनका परिचय इस प्रकार है :

१. द प्रति—यह दि० जैन नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीके शास्त्र-भण्डारकी प्रति है। इसकी देहली सूचक 'व' संज्ञा है। इसमें कापीनुमा उतने ही लम्बे और उतने ही चौड़े कुल १३ पत्र हैं। प्रत्येक पत्रके एक-एक पृष्ठमें १८, १८ पंक्तियाँ और एक-एक पंक्तिमें प्रायः २४, २४ अक्षर हैं। अन्तिम पत्रके द्वितीय पृष्ठमें केवल ११ पंक्तियाँ हैं। यह प्रति पुष्ट तथा अच्छी दशा में है और उसकी लिखावट स्वच्छ एवं साफ है। प्रति-लेखनका समय 'संवत् १८७१' अन्तर्गते दिया हुआ है, जिससे यह प्रति लगभग १५० वर्ष पुरानी स्पष्ट जान पड़ती है। यह बा० पन्नालालजी अग्रवाल दिल्लीकी कृपासे प्राप्त हुई।

२. आ प्रति—यह जैन सिद्धान्त भवन आराकी प्रति है। इसकी आरा-बोधक 'आ' संज्ञा रखी है। आरम्भमें हमें यही प्रति मिली थी। इसमें पत्र-संख्या १० है। प्रत्येक पत्रमें उसके प्रथम तथा द्वितीय पृष्ठमें १२, १२ पंक्तियाँ हैं। पर प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या सम नहीं है। किसी में ४८, ४९, ५०, किसीमें ५१, और किसीमें ५२, ५४, अक्षर हैं। लम्बाई १३॥ इंच तथा चौड़ाई ६॥ इंच है। ऊपर कहा जा चुका है कि

इसकी देहलीकी प्रतिपरसे प्रतिलिपि करायी गयी है। जैसा कि इसके अन्तिम समाप्ति-शुष्पिका-वाक्यसे भी प्रकट है। और जिसमें इय्य प्रतिके लेखनका भी समय 'संवत् १९९१' दिया गया है। यह प्रति भवनके तत्कालीन अध्यक्ष प्रो० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य, एम. ए. आरा-द्वारा प्राप्त हुई थी और अब उसका परिचय मेरी प्रेरणा पाकर भवनके वर्तमान कार्यवाहक प्र० ब्रह्मदत्तजी मिश्रने भेजा है।

इन दो प्रतियोंके अतिरिक्त हमें और कोई प्रति प्रयत्न करनेपर भी उपलब्ध नहीं हो सकी।

### संशोधन और नुटित पाठ-मूर्ति :

यद्यपि दोनों प्रतियाँ अधिक प्राचीन नहीं हैं, फिर भी अनेक स्थलों पर काफी अशुद्ध पाठ मिले हैं और कई स्थानोंपर वे नुटित भी प्रतीत हुए हैं। रचना-दीप्तिरूप भी हमें अनेक जगह खटका है। प्रस्तुत संस्करणमें हमने उन अशुद्ध पाठोंको शुद्ध तथा नुटितोंको पूर्ण करनेका यथासाध्य प्रयत्न किया है। मूलकारकी कृतिको हमने ज्यों-का-र्यों रहने दिया है। हाँ, जहाँ कुछ असंगति या न्यूनता जान पड़ी है वहाँ अपनी ओरसे सम्दर्भानुकूल [ ] ऐसे कौष्टिकमें पाठोंका निक्षेप करके उसे दूर करनेका आक्षेप प्रयत्न अवश्य किया है। यहाँ उदाहरणके लिए उन कतिपय अशुद्ध तथा नुटित पाठोंको उनके शुद्ध एवं पूर्ण रूपोंके साथ दिया जाता है।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
संख्यन्ताम्	उच्यताम्	१
निवर्तेत	निवर्तते	६
अचेतनोऽर्थकरणं	अचेतनोऽर्थः करणम्	७
प्रमाणप्रपञ्चता	प्रामाण्यप्रपञ्चता	८
प्रकृतिमहानिति	प्रकृत्येर्महानिति	८

साधनेभ्यः

प्रदीपानां

घटरूपत्वज्ञान

—रमकमेव सर्वज्ञात्वे

कर्तृ-कर्म-क्रिया

षड्गुरादि

दर्शकप्रापकत्वादपि

प्रसारणकारणानि

वापकत्वानुपपत्तेः

वस्तुन एकाग्रतात्

श्रुति

अथाभिप्रायेत्

इति

प्रमाणं

परस्परसापेक्षं

भवता

नाप्यनुमानं तत्साधकम्, तस्य सम्बन्धग्रहणपूर्वकत्वात् ।

सम्बन्धग्राहकं च न किञ्चित्प्रमाणमस्ति

ततः

तस्य

तत्र द्रव्याणि

नवैव

किं च, अग्न्यतोऽपि अनुमान-

अपि

साधनेभ्यः

प्रदीपादीनाम्

घट-रूप-रूपत्वज्ञान

व्यवसायारमकत्वे

कर्तृ-करण-क्रिया

षाड्गुरादि

दर्शकत्व-प्रापकत्वादि-

प्रसारणानि

वापितत्वानुपपत्तेः

वस्तुन एव प्रकाशनात्

दोनों प्रतियोगे नहीं हैं

"

"

"

"

"

"

"

"

१३

१६

१६

२२

२४

२८

३०

३३

३४

४०

४०

८

१६

१७

२५

२६

२८

२९

३५

३५

३६

३९

४५

अन्य कितनी ही अशुद्धियोंको मूल-ग्रन्थ और उसके बाद-टिप्पणसे जाना जा सकता है । यहाँ उन सबका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है ।

## संस्करणकी विद्येयताएँ :

(१) यह ग्रन्थ पहली बार प्रकाशित हो रहा है। प्राप्त प्रतियोंके आधारसे पूर्ण सावधानीके साथ इसका संशोधन किया गया है। कुछ पाठको मूलमें रखा है और अनुष्ठ पाठों एवं पाठान्तरोंको द्वितीय पुटनोटमें दे दिया है।

(२) विषय-विभाजन, उत्पत्तिका-व्याख्याकी योजना और अनुच्छेदों ( पैराग्राफों ) का विभागीकरण कर देनेसे ग्रन्थके अभ्यासियोंको इसके अभ्यास करने एवं पढ़नेमें सौकर्य होगा और कठिनाईका अनुभव नहीं होगा।

(३) ग्रन्थमें आये हुए अवतरणोंको इनबर्टेड कॉमाजमें रख दिया गया है, जिनसे उनका मूलग्रन्थसे महत्वमें वृद्धि होय गया था। साथ ही उनके मूल स्थानोंको भी संकेतकर उन्हें [ ] ऐसे कोष्ठकमें दे दिया है। अथवा मूल स्थानके न मिलनेपर उसे खाली छोड़ दिया है।

(४) ग्रन्थके विषयसे संबद्ध उन उद्धरणोंको भी दूसरे ग्रन्थोंसे तुलनात्मक टिप्पणियोंके रूपमें पहले पुटनोटमें दे दिया गया है, जिनसे प्रकृत विषयको समझनेमें पाठकोंको न केवल सहायता ही मिलेगी, अपितु उनसे उनका इन विषयका ज्ञान भी सम्पुष्ट होगा।

(५) ग्रन्थकी विषय-सूची और पाँच परिशिष्टोंकी योजना भी की गयी है, जो बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे।

(६) हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसीके संस्कृत-महाविद्यालयमें दर्शन-विभागाध्यक्ष विद्वत् श्री० हीराबल्लभजी दास्जीका महत्त्वपूर्ण प्रावक्तव्य, जो कई विषयोंपर अच्छा प्रकाश डालता है, संस्करणकी उत्प्रेरणीय विद्येयता है।

(७) प्रस्तावनामें जैन-धर्मके दोनों संपादकों—प्रमाण और प्रमेय-तत्त्वों पर विस्तृत एवं तुलनात्मक विचार किया गया है। साथमें ग्रन्थ और ग्रन्थ-कारके सम्बन्धमें ऊहापोहपूर्वक पर्याप्त तथा अभीष्ट सामग्री प्रस्तुत की



गयी है। कहना न होगा कि प्रस्तावना जैनन्यायके अभ्यासियों और जने विद्वानोंकी बौद्धिक भूगर्भी मिटानेमें सक्षम होगी।

### कृतसत्ता-स्थापन :

प्रस्तुत संस्करणकी इस रूपमें उपस्थित करनेमें जिन महानुभावोंकी मुझे सहायता एवं प्रेरणादि मिले हैं, उनका आभार प्रकाशित करना मेरा विशिष्ट कर्तव्य है।

गुरुदेव पूज्य श्रीमुनि समन्तभद्रजी महाराजका साग्रिष्य न मिला होता तो इस ग्रन्थका सम्पादन और प्रकाशन सम्भवतः इतनी जल्दी न हो पाता। सम्माननीय डा. ए. एन. उपाध्ये बोल्हापुरमें मुझे इस ग्रन्थके सम्पादनके लिए न केवल प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया है, अपितु उन्होंने समय-समयपर अनेक परामर्श भी देकर अनुगृहीत किया है। समादरणीय विद्वद्वर पण्डित हीरावल्लभजी शास्त्रीने अपना विद्वत्पूर्ण प्राक्कथन लिखकर मुझे विशेष आभारी बनाया है। श्री पार्ष्वनाथ जैन विद्याधम वाराणसीके अधिष्ठाता माननीय पं० कृष्णचन्द्राचार्यने अपनी लायब्रेरीसे उदारतापूर्वक अनेक ग्रन्थ देकर बहुत सुविधा प्रदान की है। भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी लायब्रेरीसे उसके सुयोग्य व्यवस्थापक पण्डित बाबुलालजी फागुल्लने भी आवश्यक ग्रन्थोंकी व्यवस्था करके मुझे मदद पहुँचायी है। मित्रवर पण्डित परमानन्दजी शास्त्री दिल्लीने मेरे पत्रका उत्तर देकर तीन श्रेष्ठसेनोंके नाम भेजे हैं। इन सभी सहायकों तथा पूर्वोल्लिखित प्रति-दाताओंका मैं बहुत आभारी हूँ। अन्तमें उन ग्रन्थकारों तथा सम्पादकोंका भी कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों आदिसे मुझे कुछ भी सहायता मिली है।

भाद्रपदा पञ्चमी,  
वीरनिर्वाण संवत् २४८७,  
१५ मितम्बर १९६१,

सम्पादक

दरबारीलाल जैन कोठिया  
न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, एम. ॥  
प्राध्यापक, संस्कृत-महाविद्यालय,  
हिल्ड-विश्वविद्यालय, वाराणसी

## प्रस्तावना

### ग्रन्थ और ग्रन्थकार

जैन ग्यायकी यह लघु, किन्तु महत्वपूर्ण, रचना अमोनक कहींसे प्रकाशित नहीं हुई और न किसी विद्वान्के द्वारा इसके तथा इसके कर्त्तृके सम्बन्धमें कोई प्रकाश डाला गया है। यह ग्रन्थ बार प्राचीन जैन ग्रन्थोंकी समुदायक प्राकृत-संस्कृत-ग्रन्थावलि भाणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशमें आ रही है। अतः यह आवश्यक है कि इस कृति और उसके कर्त्तृके सम्बन्धमें यहाँ कुछ प्रकाश डाला जाय।

#### १. ग्रन्थ

(क) प्रमाणप्रमेयकलिका :

यह जैन तार्किक श्री नरेन्द्रदेवकी मौलिक ग्याय-विषयक कृति है और जैन ग्यायके प्राथमिक अम्माभियों एवं जिज्ञासुओंके लिए बड़ी उपयोगी है। इसमें प्रमाण और प्रमेय इन दो तर्कोंपर संक्षेपमें विवाद, सरल और तर्कपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

(ख) नाम :

ग्याय-साहित्यके इतिहाससे मालूम होता है कि ग्याय-ग्रन्थकारोंने अपने ग्याय-ग्रन्थ या तो 'ग्याय' शब्दके साथ रचे हैं; जैसे ग्यायमूत्र, ग्यायवानिक, ग्यायप्रवेश आदि। अथवा, 'प्रमाण' या 'प्रमेय', या दोनों 'प्रमाण-प्रमेय' शब्दोंके साथ उनकी रचना की है; जैसे प्रमाणवार्तिक, प्रमाणभंगह, प्रमेय-कमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला, प्रमाणप्रमेयग्याय आदि। कितने ही ऐसे भी

१. इसका टाइटिल 'जैन ग्रन्थावली' पृष्ठ ७१, पार्श्व १ में है और उमरे २२४ ताडपत्रोंका ग्रन्थ तथा जैमलमेरमें होनेका निर्देश किया गया है।

अन्य ग्रन्थकारिता शक्य है।

ग्रन्थ उपलब्ध है, जो 'कलिकान्त' रचे गये हैं; जैसे जयन्त भट्टकी न्याय-कलिका, राजशेखरकी स्याद्वादकलिका, जिनदेवकी काव्यकलिका<sup>२</sup>, पादलि-  
प्ताचार्यकी निर्याणकलिका,<sup>३</sup> कवि ठाकुरकी महापुराणकलिका<sup>४</sup> आदि। जान-  
पड़ता है कि नरेन्द्रसेनने अपनी प्रस्तुत कृतिका भी नाम इन ग्रन्थोंको ध्यान  
में रखकर 'प्रमाणप्रमेयकलिका' रखा है। उसका यह यथार्थ गुणनाम है  
और वह ग्रन्थके पूर्णतः अनुरूप है।

### ( ग ) भाषा और रचना-शैली :

यद्यपि न्याय-ग्रन्थोंकी भाषा कुछ जटिल और दुसूह रहती है, पर इसकी  
भाषा सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। बीच-बीचमें कहीं मुहाविरों, न्याय-वाक्यों  
और विशेष-पदोंका भी प्रयोग किया गया है और उनसे रचनामें सौष्ठव एवं  
वैशिष्ट्य आ गया है। उदाहरणार्थ विषयकी लोक-प्रसिद्धि मतलानेके लिए  
दो स्थलोंपर 'आ-विद्भद्रना-सिद्ध' इस मुहाविरका प्रयोग किया गया है।  
योगदृष्टिसमुच्चयमें भी आचार्य हरिभद्रने इस मुहाविरका निम्न प्रकार  
प्रयोग किया है :

१. इसका भी उल्लेख उक्त 'जैन ग्रन्थावली' पृष्ठ ८१, वर्ग १ में  
२१ नं० पर किया गया है और यह 'राजशेखर ( १२१४ )' की रचना  
मतलाई गई है तथा उसमें ४० कारिकाओं एवं ४ पत्रोंके होनेका निर्देश  
है। यह भी अप्रकाशित है।

२. यह लेखकके द्वारा सम्पादित तथा अनूदित 'न्यायदीपिका' पृष्ठ  
१११ तथा प्रो० महेन्द्रकुमारजीके 'जैन दर्शन' पृष्ठ १२८ पर उल्लिखित है।

३. यह नित्यकर्म, दीक्षा, प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठापद्धति आदिका वर्णन  
करनेवाली 'मुनि मोहनलाल जैन ग्रन्थमाला बम्बई' से प्रकाशित एक  
कर्मकाण्डविषयक जैन रचना है।

४. इसका निर्देश 'अनेकान्त' वर्ष १३, किरण ७, ८ में है और यह  
यहाँ प्रकाशित नहीं हुई है।

आ-विद्वद्गता-मिदमिदानीमपि दृश्यते ।

एतद्व्यायस्तदन्वत्तु नु-बह्वाऽऽगम-भाषितम् ॥

—योगर० स० पृ० ११, श्लोक ५५ ।

नरेन्द्रसेनने प्रमाणप्रमेयव्यतिकारों आचार्य प्रमाणवृत्ती पद्धतिका अनुसरण किया है और उनके प्रमेयकमलमार्तच्छ तथा व्यायकुमुदबन्धकी तरह विकल्पों एवं तर्कों द्वारा वक्तव्य विषयोंकी समालोचना और ऊहापोह किया है । आरम्भमें 'ननु किं तत्त्वम्, तदुच्यताम्' इन शब्दोंके साथ तत्त्व-सामान्यकी जिज्ञासा करके बादकी उन्होंने प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्वकी भीमासा की है ।

### ( घ ) याह्य विषय-परिचय :

यद्यपि ग्रन्थकारने ग्रन्थकी स्वयं प्रकाशों या परिच्छेदोंकी तरह किम्हीं विभागों या प्रकरणोंमें विभक्त नहीं किया है तथापि अर्हानक प्रमाणकी भीमासा है बर्हातक प्रमाणतत्त्व-परीक्षा और उसके बाद प्रमेयतत्त्वकी भीमासा होनेने प्रमेयतत्त्व-परीक्षा, इस प्रकार दो प्रकरणोंमें इसे विभाजित किया जा सकता है । प्रस्तुत ग्रन्थमें हमने ये दो प्रकरण कल्पित किये हैं और जिनका विषय-वर्णन इस प्रकार है ।

१. 'प्रमाणतत्त्व-परीक्षा' प्रकरणमें प्रभाकरके 'ज्ञानूपाधार', साक्ष्य-योगोंके 'इन्द्रियवृत्ति', जरत्रयायिक भट्ट जयन्तके 'सामग्रो' अपरनाम 'कारक-साक्ष्य' और योगोंके 'सन्निकर्ष' इन विभिन्न प्रमाण-लक्षणोंकी परीक्षा करके 'स्वार्थव्यवसायारमक ज्ञान' को प्रमाणका निर्दोष उद्घाटन सिद्ध किया है । ज्ञानके कारणोंपर विचार करते हुए नरेन्द्रसेनने इन्द्रिय और मनको ज्ञानका अनिवार्य कारण बनलाया है और जो अर्थ तथा आलोकको भी उसका अनिवार्य कारण मानने हैं उनकी उन्होंने सौपपत्तिक आलोचना की है । प्रमाणका साक्षान् और परम्परा फल बतलाकर उसे प्रमाणसे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न प्रदर्शित किया है । बौद्ध अपने चारों

प्रत्यक्षों को अवितर्कवादी तो मानते हैं, पर उन्हें वे व्यवसायात्मक स्वीकार नहीं करते । ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमें उसकी भी मीमांसा की है और उन्हें व्यवसायात्मक सिद्ध किया है । प्रकरणके अन्तमें मीमांसक आदि उन दार्शनिकोंकी भी आलोचना की है जो ज्ञानको अ-स्वसंबंधी स्वीकार करते हैं तथा उनके द्वारा दिये गये 'स्वाय्मनि क्रियाविरोध' दोषका परिहार करते हुए उसे उन्होंने स्वसंबंधी प्रसिद्ध किया है ।

२. 'प्रमेयतत्त्व-परीक्षा' में सांख्यिक सामान्यका, बौद्धोंके विशेषका, वैशेषिकोंके परस्परनिरपेक्ष सामान्य-विशेषोभयका और वेदान्तियोंके परम-ब्रह्मका शक्तिस्तर परीक्षण करके सापेक्ष सामान्य-विशेषोभय तत्त्वका प्रमाण-का विषय—प्रमेय सिद्ध किया गया है । बौद्ध तत्त्वको 'सकल-विकल्पवा-ग्योचरानीत' कहकर उसे केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्षगम्य प्रतिपादन करते हैं । नरेन्द्रसेनने बौद्धोंकी इस मान्यतापर भी विचार किया है और शब्द तथा अर्थमें वास्तविक वाक्य-वाचक सम्बन्ध एवं सहज योग्यताके हीनेका निर्देश करते हुए तत्त्वको निश्चयात्मक ज्ञानका विषय युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है । साथ ही समस्तभद्रके 'युक्त्यनुशासन' की 'तत्त्वं विशुद्धम्' इत्यादि कारिकाको उद्धृत करके उससे उसे प्रमाणित किया है ।

इस तरह यह प्रमाणप्रमेयकलिकाका बाह्य विषय-परिचय है । अब उसका आन्तरिक विषय-परिचय भी प्रस्तुत किया जाता है ।

( ॐ ) आभ्यन्तर विषय-परिचय :

१. मङ्गलाचरण :

ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गल करना प्राचीन भारतीय आस्तिक परम्परा है । उसके अनेक प्रयोजन और हेतु माने गये हैं । वे ये हैं :—

१. निर्विघ्न शास्त्र-परिसमाप्ति, २. शिक्षाकार-परिपालन, ३. नास्तिकता-परिहार, ४. कृतज्ञता-प्रकाशन और ५. दिव्य-शिक्षा ।

१. 'तद्यनुविधम्'—आध्यात्मिक पृष्ठ १२ ।

इन प्रयोजनोंकी संपूर्ण करनेवाला निम्न निम्न पद है, जिसे पण्डित-प्रवर आचार्यजी ( वि० सं० १३०० ) ने अपने अनंगार-धर्माम्बरी टीका ( पृ० १ ) में उद्धृत किया है ।

नाम्निग्रन्थ-परिहारः निष्ठाचार-प्रपालनम् ।

पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तमंस्त्वान् ॥

१. प्रत्येक ग्रन्थकारके हृदयमें ग्रन्थारम्भके समय सर्वप्रथम यह कामना होती है कि 'यह प्रारम्भ किया गया मेरा कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाय।' क्या तथा वैज्ञानिक दोनों वर्गोंमें 'ममास्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' इस वाक्य-की श्रुति-प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत करके ममानि और मङ्गलमें कार्यकारण-भावकी स्थापना की गई है । जहाँ मङ्गलके होनेपर भी ममानि सही देखी जाती वहाँ मङ्गलमें कुछ ग्युनना—माघनवैगुण्यादि बतलाई गई है तथा जहाँ मङ्गलके बिना भी ग्रन्थ-ग्रमानि देखी जाती है वहाँ जन्मान्तरीय मङ्गलकी कल्पना की गई है और इस तरह प्राचीन नैयायिकोंने ममानि एवं मङ्गलमें कार्यकारणभावकी संगति बिछाई है । नवीन नैयायिकोंका मत है कि मङ्गलका सीधा फल तो विघ्नध्वंस है और ग्रमानि ग्रन्थकर्ताकी प्रतिभा, बुद्धि और पुण्यायका फल है । इनके अनुसार विघ्नध्वंस और मङ्गलमें कार्यकारणभाव है ।

२. मङ्गल करना एक शिष्ट कर्तव्य है । इसमें मराचारका पालन होता है । अतः प्रत्येक ग्रन्थकारको इस शिष्टाचारका पालन करनेके लिए ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गल करना आवश्यक है ।

३. परमात्माका गुणस्मरण करनेमें परमात्माके प्रति ग्रन्थकर्ताकी भक्ति, धृष्टा और आत्मिक बुद्धि आती जाती है और इस तरह नास्तिकताका परिहार होता है । अतः ग्रन्थकर्ता इस प्रयोजनमें भी ग्रन्थारम्भमें मङ्गल करते हैं ।

( ४ ) ग्रन्थ-सिद्धिमें अविनाशतः गुरुजन निमित्त होते हैं । चाहे वे उसमें साक्षात् सम्बद्ध हों या परम्परा । उनका वरद आशीर्वाद और स्मरण उसमें अवश्य ही सहायक होता है । यदि उनसे या उनके रचे शास्त्रोंसे सुबोध प्राप्त न हो तो ग्रन्थ-निर्माण नहीं हो सकता । इसलिए कृतज्ञ ग्रन्थ-कार अपने ग्रन्थके आरम्भमें कृतज्ञता-प्रकाशन करनेके लिए उनका स्मरण अवश्य करते हैं ।<sup>१</sup>

( ५ ) पाँचवाँ प्रयोजन दिव्य-शिक्षा है । इस प्रयोजनसे भी ग्रन्थकार चिकीर्षित शास्त्रके आदिमें मङ्गल करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसा करनेसे दिव्य-गण भी मङ्गल करेंगे और इस ध्येष्ठ परम्पराको वे हिएर रखेंगे ।

जैन परम्परामें ये सभी प्रयोजन स्वीकार किये गये हैं और उनका समर्पण किया गया है । आचार्य विद्यानन्दने इन प्रयोजनोंके अतिरिक्त एक प्रयोजन और बतलाया है और उसपर उन्होंने सबसे अधिक बल दिया है । वह है 'धेयोमार्गसंसिद्धि' ।<sup>२</sup> उनसे लिखा है कि अन्य प्रयोजन तो पात्र-दानादिसे भी सम्भव हैं,<sup>३</sup> पर धेयोमार्गकी सिद्धि एकमात्र परमेष्ठिगुण-स्मरणसे ही हो सकती है । अतः धेयोमार्गसिद्धि विद्यानन्दके अभिप्राय-

१. अमिमत्तफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,  
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य श्रोतृत्तिरासात् ।  
इति मयति स धूम्यस्तत्प्रसाद-प्रबुद्धै-  
र्म हि कृतमुपकारं साधको जिस्मरन्ति ॥

—तत्त्वार्थश्री० पृ० २, उद्धृत ।

२. धेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ।  
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुद्गवाः ॥

—आप्तपरी० पृ० २, कारि० २ ।

३. देतिष्ण, आप्तपरी० पृ० ११ ।

नुसार मङ्गलाचरणका मुख्य प्रयोजन है। इस मङ्गलाचरणका जैन वाङ्मयमें विस्तृत, विवाद और मूढम विवेचन किया गया है<sup>१</sup>।

प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकल्पायामे नरेन्द्रमेवने श्री अपनी पूर्व परम्पराानुसार मङ्गलाचरण किया है। इतना अवश्य है कि उन्होंने विद्यानन्दकी प्रमाण-परीक्षाके मङ्गलाचरणको ही अपने ग्रन्थका मङ्गलाचरण बना लिया है। ऐसा करके उन्होंने उसी प्रकार अपनी संप्रहृद्यालिनी एवं उदार बुद्धिका परिचय दिया है जिस प्रकार यूग्यपाशने आचार्य गृध्रपिण्डके तत्त्वार्थमूत्रगण मङ्गल-दलोकको अपनी सर्वार्थसिद्धिका मङ्गलाचरण बनाकर दिया है<sup>२</sup>। भनः इस प्रकारकी प्रवृत्ति ग्रन्थकर्ताके हृदयकी विद्यालता और संवाहक बुद्धिको प्रकट करती है।

## २. तत्त्व-विचारणा :

तत्त्व-विचारकोंके समक्ष 'तत्त्व क्या है?' यह ज्वरल्लत प्रश्न सदा रहा है और उसपर उन्होंने ग्युनाधिक रूपमें विचार किया है। जो विचारक उसकी जितनी गहराई और तह तक पहुँच सका, उसने उसका उतना विवेचन किया। कई विचारकोंने तो बालकी खाल निकालनेका प्रयत्न किया है और तत्त्वको विकल्पजालमें बाँध ( फँस ) कर या तो उसे 'उपप्लुन' कह दिया है और या उसे 'शून्य' के रूपमें मान लिया है। तत्त्वोपलववादी प्रमाण और प्रमेय दोनों तत्त्वोंको उपप्लुन ( बाधित ) बतलाकर 'तत्त्वोपप्लववाद' की स्थापना करते हैं। शून्यवादी उन्हें शून्य रूपमें स्वीकार करते हैं। उनको दृष्टिमें न प्रमाण तत्त्व है और न प्रमेय तत्त्व—केवल शून्य तत्त्व है। ये विचारक तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वको स्वीकार करते

१. दैगिण, मिलोपपण्णत्ति १-८ मे १-३१ तथा धवला १-१-१।

२. दैगिण, 'तत्त्वार्थमूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख, अमेरिगन्त वर्ष ५, डिरेण ६-७, १०-११। तथा आसुपरी० की प्रस्ता०



समय अपनी सत्ताको भी छो देते हैं । और जब उनकी अपनी सत्ता हो नहीं रहती, तब तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वका साधन कौन करेगा ? दूसरी बात यह है कि जब किसी निर्णोत वस्तुको स्वीकार हो नहीं किया जाता—सभी विषयोंमें विवाद है तो किसी भी विषयपर—यहाँ तक कि उनके अभिमत तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वपर भी विचार नहीं किया जा सकता ।

कितने ही चिन्तक तत्त्वकी सत्ताको स्वीकार करके भी उसे अवगन्ध-शब्दादित, ग्रहादित, विज्ञानादित, विचारित आदिके कटघरमें बन्द कर लेते हैं और उसकी निन्दिके लिए एड़ीसे चाँटीतक पसीना बहाते हैं । पर ये चिन्तक भी यह भूल जाते हैं कि तत्त्व जब सर्वथा अवगन्ध है तो शब्द-प्रयोग किसलिए किया जाता है और उसको किये बिना दूसरोंको उसका बोध कैसे कराया जा सकता है ? उस हालतमें तो केवल मौन ही अवलम्बनीय है ।<sup>१</sup> तथा जो उसे सर्वथा अद्वैत—एक मानते हैं वे साध्य-साधनका द्वैत माने बिना कैसे अपने अभिमत 'अद्वैत' तत्त्वकी स्थापना कर सकते हैं,

१. 'तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकैव केनचिदपि प्रमाणेन ह्य-प्रसिद्धेन वा सकलतत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त पृथग्मानं निरस्यन्तीति व्याहनमेतन्, तथातत्त्वोपप्लववादित्व-व्याघातात् ।'—अष्टम० पृ० ३७ तथा पृ० ४२ ।

२. क्रिश्चिन्निर्णानमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तीं तु अचिन्नास्ति विचारणा ॥—अष्टम० पृ० ४२ ।

३. सर्वान्ताश्चेदवप्रव्यास्येतां किं वचनं पुनः । संवृतिश्चेन्मृपेया परमार्थ-विपर्ययात् ॥

—आप्तमी० का० ४९ ।

४. धराकयादवाच्यं किमभावाकिमबोधतः ।

आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोप्यतां स्फुटम् ॥

—आप्तमी० का० ५० ।

क्योंकि उनके साधनरूपमें उपस्थित किये जानेवाले हेतु, उन्हें ही ईश्वर ईश्वरवादी ही सम्भव है, अद्वैतमें नहीं।

ईश्वरवादी सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध दर्शनवादी भी तत्त्वपर यद्यपि विस्तारसे विचार किया है, परन्तु वे ईश्वरवादी पक्षधर ही मानकर उसको पूरा समझ लिया है। ईश्वरवादी ईश्वर ईश्वरवादी तत्त्व पर गहरा और मृदुम चिन्तन किया है और वे ईश्वर ईश्वरवादी हैं कि तत्त्व अनेकान्तस्वरूप है। आचार्य समन्वयने 'समन्वय' तत्त्वको दो भागोंमें विभक्तकर उसपर विग्रह प्रकाशित किया है। व्याख्याकार अकलङ्क और विद्यानन्दने भी उनकी व्याख्या तथा पल्लविन किया है। यहाँ हम तत्त्वके भेदों की व्याख्या करने का विचार कर रहे हैं, इसमें उनके समझनेमें सुविधा के लिए इस प्रकार है :

१. अद्वैतैकान्त-पक्षेऽपि दृष्टो भेदो विद्यते :

कारकाणां क्रियायाश्च भेदो स्वस्मान्मन्त्रः ।

—इत्यादि श्रुतिः २४ २० के ३० मन्त्रः ।

२. यहाँ ज्ञातव्य है कि कारिका ०१ के २२ मन्त्र ( २२ मन्त्रों परित्येदमें ) ज्ञापक—प्रमाण-उपायनमन्त्रः ( २२ मन्त्रों परित्येदमें ) कारक-उपायनमन्त्रः ( २२ मन्त्रों परित्येदमें ) शर्पा है और कारिका १२ से १५ तक ( २२ मन्त्रों परित्येदमें ) शर्पा तथा पाप) की उत्पत्तिके कारणोंकी भीमता है १०० तक ( २२ मन्त्रों परित्येदमें ) वन्धन है ११२ तक प्रमाणके स्वरूप, उसके ११२ प्रतिपादित है। इस तरह समन्वयने मीमांसा है।



प्रमाणप्रमेयकलिकामें जरेन्द्रसेनने भी तत्त्व-भामान्यकी विज्ञासा करते हुए उगे नाम-सिद्ध मानकर उसके विशेषों—प्रमाण और प्रमेय तत्त्वोंपर संक्षेपमें मोमांसा उपस्थित की हैं ।

### ३. प्रमाणतत्त्व-परीक्षा :

तत्त्व, अर्थ, वस्तु और सत् ये चारों पर्याय शब्द हैं । जो अस्तित्व स्वभाववाला है वह सत् है और तत्त्व, अर्थ तथा वस्तु अस्तित्व-स्वभावकी सीमासे बाहर नहीं हैं—ये तीनों भी अस्तित्ववाले हैं । इसलिए सत्का जो अर्थ है वही तत्त्व, अर्थ और वस्तुका है और जो अर्थ इन तीनोंका है वही सत्का है । निष्कर्ष यह कि ये चारों समानार्थ हैं । जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि तत्त्व दो समूहोंमें विभक्त है । वे दो समूह हैं—१. उपाय और २. उपेय । उपायतत्त्व दो प्रकार हैं—१. ज्ञापक ( प्रमाण ) और २. कारक ( कारण ) । उपेयतत्त्व भी दो तरहका है—१. ज्ञाप्य ( ज्ञेय-प्रमेय ) और २. कार्य ( उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ ) । इनमेंसे यही ज्ञापक ( प्रमाण ) और ज्ञाप्य ( प्रमेय ) ये दो ही चर्चाका विषय अभिप्रेत हैं । अग्य तार्किकोंने भी इनपर विचार किया है और उनके स्वरूप निर्धारित किये हैं । साथ ही प्रमाणको व्यवस्थापक तथा प्रमेयको व्यवस्थाप्यके रूपमें स्वीकार किया है ।<sup>१</sup> प्रहलमें देवता है कि उनके वे स्वरूप युक्तिर्मगत हैं या नहीं ? यदि नहीं तो उनके युक्तिर्मगत स्वरूप क्या है ?

### ( अ ) ज्ञातृव्यापार-परीक्षा :

सर्वप्रथम प्रमाणके स्वरूपपर विचार किया जाता है । प्रभाकरका मत है<sup>३</sup>

१. 'उपायतत्त्वम्—ज्ञापकं कारकं चेति द्विविधम् । तत्र ज्ञापकं प्रकाशमुपायतत्त्वं ज्ञानम् । कारकं उपायतत्त्वमुद्योगदैवादि ।'

—अष्टम० टिप्प० पृ० २५६ ।

२. 'प्रमेयमिद्विः प्रमाणादि ।'

—सांख्यका० ३ ।

३. देखिये, शास्त्रदी० पृ० २०२ तथा मीमांसास्येक० पृ० १५२ ।

कि जिनके द्वारा अर्थप्रकाशन होता है वह प्रमाण है और अर्थप्रकाश  
जाताके व्यापार द्वारा होता है। जबतक ज्ञाता वस्तुको जाननेके लिए व्यापार  
अर्थात् प्रवृत्ति नहीं करता तबतक उसे वस्तुका ज्ञान नहीं होता। यह देखा  
जाता है कि वस्तु, इन्द्रियाँ और ज्ञाता ये तीनों विद्यमान रहते हैं, पर  
वस्तुका ज्ञान नहीं होता। किन्तु ज्ञाता जब व्यापार करता है तब  
उसका ज्ञान अवश्य होता है। अतः ज्ञानाके व्यापारको प्रमाण मानना  
चाहिए।

प्रस्तुत चर्चमें इनकी मोमोता करते हुए कहा गया है कि ज्ञाताका  
व्यापार ज्ञातासे भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न है तो उनमें—ज्ञाता  
और व्यापारमें सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यदि भिन्नोंमें सम्बन्ध स्वीकार किया  
जाय तो जिस प्रकार भिन्न ज्ञाताके साथ भिन्न व्यापारका सम्बन्ध हो जाना  
है उसी प्रकार पदार्थान्तरके साथ भी व्यापारका सम्बन्ध सम्भव है, क्योंकि  
भिन्नता दोनोंमें समान है। और यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया  
जाय कि ज्ञाताके साथ ही व्यापारका सम्बन्ध है, पदार्थान्तरके साथ नहीं,  
क्योंकि वह ज्ञाताका ही व्यापार है, पदार्थान्तरका नहीं, तो यह बतलाना  
चाहिए कि वह व्यापार क्रियात्मक है या अक्रियात्मक? यदि क्रियात्मक है  
तो वह क्रिया उस (व्यापार) से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो  
भिन्न पक्ष-सम्बन्धी पहले कहा गया दोष पुनः आता है। यदि अभिन्न है तो  
या तो व्यापारमात्र रहेगा या क्रियामात्र, क्योंकि अभेदमें दोनोंमें कोई एक  
ही रहता है, दूसरा उसीके अनुरूप हो जाता है। यदि वह व्यापार अक्रि-  
यात्मक है तो वह व्यापार कैसे? क्योंकि व्यापार तो कियारूप होता है,  
अक्रियारूप नहीं। अतः व्यापार ज्ञातासे भिन्न तो नहीं बनता। अभिन्न भी  
वह सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रथम तो दोनों एक ही जाएँगे—‘ज्ञाता और  
ज्ञानव्यापार’ यह भेद फिर नही हो सकता। दूसरे, प्रमाणरूपे उसे ज्ञातासे  
अभिन्न स्वीकार भी नहीं किया है।

इसके अतिरिक्त अनेक प्रश्न और उठते हैं। प्रमाणरूपे पूछा जाता है

कि वह व्यापार नित्य है या अनित्य? नित्य तो उसे माना नहीं जा सकता; क्योंकि वह जानासे उसी तरह उत्पन्न होता है जिस तरह घट मिट्टीसे होता है। यदि उसे अनित्य कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसका कोई उत्पादक कारण नहीं है। आत्माको उसका उत्पादक कारण मानना सम्भव नहीं है, कारण वह नित्य है और नित्यमें अव्यक्तियां बनती नहीं। स्पष्ट है कि अव्यक्तियां क्रमशः या सुगन्ध होती हैं और क्रम तथा योगात् नित्यमें बनने नहीं। अतः वे दोनों नित्यमें निवृत्त होते हुए अपनी व्याप्यभूत अव्यक्तियों को निवृत्त कर लेते हैं। वह अव्यक्तियां भी अपने व्याप्य सत्त्व-को निवृत्त कर देती हैं। कौन नहीं जानता कि व्यापककी निवृत्तिमें व्याप्य-को भी निवृत्ति हो जाती है। इन तरह नित्यमें सर्वके न रहनेपर वह परस्मिन्मग्नदुःख है। अतः जानाया व्यापार न नित्य मिट्ट होता है और न अनित्य। इसी तरह यह भी पूछा जा सकता है कि वह चिद्रूप है या अचिद्रूप? यदि चिद्रूप है तो वह स्वमवेदी है या अस्वमवेदी? प्रथम पक्षमें अप्रमिद्वान्त है और द्वितीय पक्ष अपुन्य है, क्योंकि कोई भी चिद्रूप अस्वमवेदी नहीं हो सकता। यदि उसे अचिद्रूप कहा जाय तो उसमें अर्थप्रकाशन नहीं हो सकता।

निष्कर्ष यह कि व्याप्य—आत्मा और व्याप्य—अर्थके सम्बन्धका नाम व्यापार है। अतः व्याप्य—अर्थ जड़ है, अतः उसका सम्बन्ध भी जड़ है और जड़ (अज्ञान) में अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमा नहीं हो सकती। अज्ञान-

१. 'अथवा, ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्मभूतस्यात्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परसम्बन्धो व्याप्य-व्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षमभ्यासः विज्ञानं कल्पयति।'—शास्त्रदी० १०० २०२।

‘तत्र जन्मैर विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।

तदेव च प्रभारूपं तद्गती कारणं च धीः॥

व्यापारां न यदा तेषां तदा नोपपन्ने कलम्॥’—

—गी० श्लो० १०० १५२

वा यथोचित योगदान होता है। इनमेंसे यदि एककी भी कमी रहे तो अर्थोपलब्धि नहीं हो सकती। अतः सामग्री अथवा कारकसाकृत्य (कारकों की समग्रता) प्रमाण है।

जैन तात्त्विकोंका कहना है<sup>१</sup> कि प्रमाके प्रति जो कारण है वही प्रमाण है और कारण वह होता है जो अभ्यवहित एवं असाधारण कारण है। सामग्री अथवा कारकसाकृत्यके अन्तर्गत वे सभी कारण सम्मिलित हैं जो साधारण और असाधारण, व्यवहित और अव्यवहित दोनों हैं। ऐसी स्थितिमें सामग्री या कारकसाकृत्यको प्रमाण मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। ध्यान रहे कि इन्द्रियादि सामग्री ज्ञानकी उत्पत्तिमें तो साक्षात् कारण है, पर अर्थोपलब्धिरूप प्रमाण वह साक्षात् कारण नहीं है, परम्परा कारण है। साक्षात् कारण तो उसमें उक्त सामग्रीसे उत्पन्न हुआ एक मात्र ज्ञान ही है। अथवा, यों कहना चाहिए कि उक्त सामग्री मात्र ज्ञानको उत्पन्न करती है, वह सीधे अर्थोपलब्धिमें व्याप्त नहीं होती। अतः उक्त सामग्री जब ज्ञानमें व्यवहित हो जाती है तो वह अर्थोपलब्धिमें अव्यवहित कारण—साधकतम नहीं कही जा सकती। यदि परम्परा कारणोंको भी साधकतम (कारण) माना जाय तो उनका न कोई प्रतिनियम रहेगा और न कहीं विराम ही होगा। अतः कारकसाकृत्य या सामग्री प्रमाणका स्वरूप नहीं है। नरेन्द्रसेनने अनेक विरूप उठाकर इसकी विमर्श भीमांसा की है।

( ई ) सन्निकर्ष-परीक्षा :

योगोंकी माय्यता है कि ज्ञाताका व्यापार, इन्द्रियोंका व्यापार और कारकसाकृत्य अर्थपरिच्छिप्तिमें तबतक कुछ भी सक्रिय योगदान नहीं कर सकते, जबतक इन्द्रियोंका योग्य देशमें स्थित अर्थके साथ सम्बन्ध न हो। इस सम्बन्धके होनेपर ही ज्ञाताकी अर्थप्रमिति होती है। अतः इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्धरूप सन्निकर्ष ही प्रमाण है, इन्द्रियव्यापारादि नहीं।

१. वृत्ति, प्रमेयक० भा० ४० ८ ।

वात्स्यायन इत्यादि और कहते हैं कि कभी-कभी ज्ञान भी प्रमितिजनक होता है और इसलिए वह भी प्रमाणकोटिमें सन्निविष्ट है ।<sup>१</sup>

जैन नैयायिकोंका विचार है<sup>२</sup> कि अर्थपरिच्छिन्ति अज्ञान-निवृत्तिका ही दूसरा नाम है और इस अर्थपरिच्छिन्निरूप अज्ञान-निवृत्तिमें जो करण हो, उसे अज्ञान-विरोधी होना चाहिए और अज्ञानका विरोधी है ज्ञान । अतः ज्ञान ही प्रमितिजनक होनेमें प्रमाण माना जाना चाहिए, सन्निकर्ष नहीं । स्पष्ट है कि इन्द्रिय और अर्थ दोनों जड़—अचेतन हैं, अतः उनका सम्बन्ध—सन्निकर्ष भी जड़ है और जड़ (अज्ञान) में अज्ञान-निवृत्तिरूप प्रमिति उत्पन्न नहीं हो सकती । इसलिए सन्निकर्षको प्रमाण मानना ठीक नहीं है । तात्पर्य यह कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष सदान्-प्रमाण साधकतम होनेवाले ज्ञानमें कारण है और इसलिए वह ज्ञानसे व्यवहिन हो जानेके कारण मुख्य प्रमाणकी कोटिमें नहीं आ सकता । एक बात और है । वह यह कि ज्ञानाको<sup>३</sup> अर्थपरिच्छिन्तिमें त्रिसुकी साधकतमरूपसे अपेक्षा होती है वही प्रमाण होना चाहिए और वह साधकतमरूपसे अपेक्षणीय है ज्ञान । सन्निकर्षकी अपेक्षा ती केवल साधकरूपमें होती है, साधकतमरूपमें नहीं । तब, जो साधकतम नहीं, वह प्रमाण कैसे ?

दूसरे, सन्निकर्षमें अभ्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव ये लक्षणके तीनों दोष भी हैं । रूपकी तरह रसके साथ चक्षुःसंयुक्तसमवाय और रूपत्वकी तरह रसत्वके साथ चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष रहते हुए भी चक्षुके द्वारा रसप्रमिति और रसत्वप्रमिति उत्पन्न नहीं होती । अतः सन्निकर्ष अतिव्याप्त है । चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी होनेसे वह रूपका

१. 'यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं सदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् ।'—न्यायभा० १-१-३ ।

२. देविएण, प्रमेयक० भा० पृष्ठ १४ ।

३. 'प्रतिपक्षवेद्यं यत् प्रमाणं न तु पूर्वकम् ।'—सिद्धिचि० १-३ ।



ज्ञान गतिकर्षणके बिना ही कराती है। इसलिए गतिकर्षण ध्वंसात् भी है। यतः संनिकर्षण अचेतन है अतः वह चेतनात्मक अज्ञान-निवृत्ति ( प्रमा ) को पैदा नहीं कर सकता और इसलिए गतिकर्षण अमश्वि भी है। जान पड़ता है कि गतिकर्षणको प्रमितिजनक—प्रमाण माननेमें वास्तव्यजनके सामने ये सब आपत्तियाँ रहो हैं और इसलिए उन्होंने ज्ञानको भी प्रमितिजनक स्वीकार किया है, पर वे गतिकर्षणको प्रमाण माननेवाली पूर्व परम्पराको नहीं छोड़ गये। अस्तु।

### ( उ ) प्रमाणका निर्दोष स्वरूप :

दर्शनशास्त्रके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् 'जिसके द्वारा प्रमिति ( सम्यक् परिच्छिन्ति ) हो वह प्रमाण है' इस अर्थमें प्रायः सभी दर्शनकारोंने प्रमाणको स्वीकार किया है। परन्तु वह प्रमिति किसके द्वारा होती है अर्थात् प्रमितिका करण कौन है ? इसे सचने अलग-अलग मतलाया है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि नैयायिक संनिकर्षणमें अयं-ज्ञप्ति मानते हैं, अतः वे गतिकर्षणको प्रमितिकरण मतलाने हैं। प्रमाकर ज्ञाताके व्यापारको, साक्ष्य इन्द्रियवृत्तिको, जयन्त भट्टकारकमाकल्पको और बौद्ध सांख्य एवं योग्यताको प्रमितिकरण प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शनमें स्वपरावभासक ज्ञानको प्रमितिका करण मतलाया गया है<sup>१</sup>। इस प्रमाणप्रमेयकलिकामें इसीका समर्थन करते हुए उसे ही प्रमाणका निर्दोष लक्षण सिद्ध किया गया है तथा उसे स्वसंबन्धी माननेमें मीमांसकोंके द्वारा उठायी गयी 'स्याग्मनि क्रियाविरोध' आपत्तिका भी समुचित परिहार किया है।

१. देखिए, इसी पुस्तकके पृष्ठ ३ का पादटिप्पण।

२. देखिए, इसी पुस्तकके पृष्ठ १० तथा १८ के पादटिप्पण। तथा विशेषके लिए न्यायदी० प्रस्तावना पृ० १२।

### (ऊ) प्रमाणका फल :

अब ज्ञान-प्रमाणवादी जैनोके सामने प्रश्न आया कि यदि ज्ञानको प्रमाण माना जाता है तो उसका फल क्या है, क्योंकि अर्थाधिगम प्रमाणका फल है और उसे प्रमाण मान लेनेपर उसका अन्य फल सम्भव नहीं है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए जैन साहित्यिकोंने कहा है कि अर्थाधिगम होनेपर ज्ञाताको उम ज्ञेय ( अर्थ ) में प्रीति होती है और वह प्रीति उम ( प्रमाण ) का फल है । निश्चय ही यदि यह अर्थ ग्रहण करने योग्य होता है तो उममें ज्ञाताको उपादान-बुद्धि, छोड़ने योग्य होता है तो हेय-बुद्धि और उपेक्षणीय होता है तो उपेक्षा-बुद्धि होती है । अतः ज्ञानको प्रमाण माननेपर उसका फल ज्ञान, उपादान और उपेक्षा है । यह उसका परम्परा फल है और साक्षात् फल उमका अज्ञान-नाश है । उम अर्थके विषयमें जो ज्ञाताको अन्धकार-मदुश अज्ञान होता है वह उस अर्थका ज्ञान होनेपर दूर हो जाता है । वात्स्यायनने भी ज्ञानको प्रमाण स्वीकार करते हुए उमका ज्ञान, उपादान और उपेक्षा-बुद्धि फल बखलाया है<sup>१</sup> ।

### (ए) प्रमाण और फलका भेदाभेद :

जैन परम्परामें एक ही आत्मा प्रमाण और फल दोनों रूपसे परिणमन करनेवाला स्वीकार किया गया है । अतः एक प्रमाताकी अपेक्षा प्रमाण और फलमें अभेद तथा कार्य और कारणरूपसे पर्याय-भेद या कारण और क्रियाका भेद होनेके कारण उनमें भेद माना गया है<sup>२</sup> । जिसे प्रमाण-ज्ञान होता है

१. देखिए, इसी पुस्तकके पृष्ठ १८ का पादटिप्पण तथा सर्वार्थसि० १-१० की व्याख्या ।

२. देखिए, न्यायभा० १-१-३ । तथा इसी ग्रन्थकी प्रस्तावना पृ० १७ का टिप्पण ।

३. (क) 'प्रमाणात्कार्यविनिर्णयिष्ठं फलमिति ।'—प्रमाणपरी० पृ० ७९-८० ।

उसीका अज्ञान दूर होता है, वही अहितको छोड़ता है, हितका उपादान करता है और उपेक्षणीयको उपेक्षा करता है<sup>१</sup>। इस प्रकार एक अन्वयि आत्माको दृष्टिसे प्रमाण और फलमें कथंचित् अभेद है और प्रमाताका अर्थ-परिच्छित्तिमें साधकतम रूपसे व्याप्रियमाण स्वरूप प्रमाण है तथा अर्थपरिच्छित्तिरूप प्रमिति उसका फल है। अतः इनमें पर्यायदृष्टिसे कथंचित् भेद है<sup>२</sup>। यहाँ बरलेखनीय है कि सांख्य आदि, इन्द्रियवृत्ति आदिको प्रमाण और ज्ञानको उनका फल स्वीकार करके उन (प्रमाण तथा फल) में सर्वथा भेद ही मानते हैं और बौद्ध<sup>३</sup> (बाह्य अर्थका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले सौप्रान्तरिक एवं ज्ञानमात्रको माननेवाले विज्ञानवादी क्रमशः) ज्ञानगत अर्थकारिता या मारुप्यको और ज्ञानगत योग्यताको प्रमाण तथा विषय-धिगति एवं स्ववित्तिको फल मानकर उनमें सर्वथा अभेदका प्रतिपादन करते हैं। पर जैनदर्शनमें सर्वथा भेद और सर्वथा अभेदको प्रतीतिवाचित्त मतलाकर अनेकान्तदृष्टिसे उनका कथन किया गया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। नरेन्द्रसेनने भी प्रमाण-फलके भेदाभेदको चर्चा की है और उन्हें कथञ्चिद् भिन्न तथा कथञ्चिद् अभिन्न मिट्ट किया है।

### (घे) ज्ञानके अनिवार्य कारण :

अब प्रश्न है कि ज्ञानके अनिवार्य कारण क्या है और वे कौन हैं ? इस साम्यधर्मे सभी ताकिदोंने विचार किया है। बौद्ध अर्थ और आलोकको भी ज्ञानके प्रति कारण मानते हैं। उनका कहना है कि सद्य ज्ञान पार

(१) 'प्रमाणादमिन्मि भिन्नं च ।'—परीक्षामु० ५-२ ।

१. 'यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीतेः ।'—परीक्षामु० ५-३ ।

२. देखिए, प्रमाणपरी० पृ० ७८ ।

३. देखिए, तत्त्वसं. का. १३४४ ।

प्रत्ययों ( कारणों ) से<sup>१</sup> उत्पन्न होते हैं। वे प्रत्यय ये हैं : १. समनन्तर प्रत्यय, २. आधिपत्य प्रत्यय, ३. आलम्बन प्रत्यय और ४ सहकारि । प्रत्यय । पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है, इसलिए वह समनन्तर प्रत्यय कहलाता है । चक्षुरादिक इन्द्रियाँ आधिपत्य प्रत्यय कही जाती हैं । अर्थ ( विषय ) आलम्बन प्रत्यय कहा जाता है । और आलोक आदि सहकारि प्रत्यय हैं । इस तरह बौद्धोंने इन्द्रियोंके अतिरिक्त अर्थ और आलोकको भी ज्ञानके प्रति कारण माना है । अर्थकी कारणतापर तो यहाँ तक जोर दिया गया है कि ज्ञान यदि अर्थमें उत्पन्न न हो तो वह उस विषय ( ज्ञान ) भी नहीं कर सकती ।<sup>२</sup>

बौद्धोंके इस मन्तव्यपर जैन तार्किकोंने पर्याप्त विचार किया है और कहा है कि अर्थ तथा आलोकका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे वे ज्ञानके कारण नहीं हैं । अर्थके रहनेपर भी विपरीत ज्ञान या ज्ञानाभाव देखा जाता है और अर्थाभावेमें केन्द्रोण्डुकादिज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार आलोक के रहने हुए उलूकादि नक्तञ्चरोको ज्ञान नहीं होता तथा उसके अभावमें उन्हें ज्ञान होता हुआ देखा जाता है । अतः न अर्थ ज्ञानका कारण है और न आलोक । किन्तु इन्द्रिय और मन ये दोनों व्यस्त अथवा समस्त रूपमें आवरणशोषणम ( मोक्षता ) की अपेक्षा लेकर ज्ञानमें कारण हैं ।<sup>३</sup> नरेन्द्रमैनने भी इन्द्रिय तथा मनको ही ज्ञानका अनिवार्य कारण बतलाया है और अर्थ तथा आलोकको ज्ञानका अनिवार्य कारण न होनेका प्रतिपादन किया है ।

१. 'चत्वारः प्रत्यया हेतु' आलम्बनमनन्तरम् ।<sup>३</sup>

तथैवाधिपत्येयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥'

—साध्यमिकका० १-२ ।

तथा देनिए, अमिधर्मकोश परि० २, श्लो० ६१-६४ ।

२. 'नाकारणं विषयः' इति ।

३. रूपायस्त्रय का० ५३, ५८ तथा उर्मकी वृत्ति ।

साय ही वौद्धोंकी इस थापतिका भी, कि ज्ञान यदि अर्घसे उत्पन्न न हो तो वह उसे प्रकाशित नहीं कर सनता, परिहार किया है और आ० मानिष्य-नन्दिकी तरह लिया है कि जिस प्रकार दीपक अर्घसे उत्पन्न न होकर भी उसे प्रकाशित करता है उसी तरह ज्ञान भी अर्घसे उत्पन्न न होकर योग्यता के बलसे उसका प्रकाशन करता है ।

इस तरह इस प्रमाणतत्त्व-परीक्षा प्रकरणमें अन्य प्रमाण-लक्षणोंकी मौमाया करते हुए प्रमाणका निर्दोष स्वरूप, प्रमाणका फल और प्रमाणके कारणोंकी चर्चा की गयी है । यद्यपि ग्रन्थकर्ताने प्रमाणके भेदोंको भी बतलानेका आरम्भमें संकेत किया है किन्तु उनपर उन्होंने कोई विचार नहीं किया । जान पड़ता है कि उनकी दृष्टिमें प्रमाण और प्रमेयका मात्र स्वरूप बतलाना ही मुख्य रहा है और इसलिए उन्होंने इसमें विचार किया गया है ।

### ४. प्रमेयतत्त्व-परीक्षा :

अब प्रमेय-तत्त्वपर विचार किया जाता है । जो प्रमाणके द्वारा जाना जाये वह प्रमेय है । अर्थात् प्रमाण जिसे जानता है वह प्रमेय कहलाता है । प्रमेयके इस सामान्य स्वरूपमें किसी भी तार्किकको विवाद नहीं है । विवाद सिर्फ उसके विशेष स्वरूपमें है । सांख्य प्रमाणके द्वारा प्रमीयमाण उस प्रमेय का विशेष स्वरूप सामान्य ( प्रधान-प्रकृति ) बतलाते हैं । बौद्ध उसे विशेष ( स्वलक्षण ) रूप मानते हैं । वैशेषिक सामान्य और विशेष दोनों परस्पर-निरपेक्ष—स्वतन्त्रकी प्रमाणका विषय प्रतिपादन करते हैं तथा वेदान्ती परमपुरुषरूप प्रमेयका कथन करते हैं । प्रस्तुतमें विचारणीय है कि प्रमाणके द्वारा जानी जानेवाली वस्तु क्याचैतः कौसी है ? प्रमेयका वास्तविक स्वरूप क्या है ? यहाँ पहले प्रमेयस्वरूप-विषयक उन सभी मान्यताओंको दिया जाता है, जिनकी इस पुस्तकमें चर्चा की गयी है और बादको प्रमेयका वह स्वरूप दिया जावेगा, जिसे जैन तार्किकोंने प्रस्तुत किया है ।

## ( अ ) सामान्य-परीक्षा :

गण्योक्त मन्त्र है कि प्रमाण तीन प्रकारका है—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान और ३. आन्तर्धुनि ( आन्तरिक ) । इन तीनों प्रमाणोंका विषय चार तरहका सामान्यवादी अर्थ है, जो साक्ष्योंके आश्रयमें वर्णित हैं । कोई प्रवृत्ति साक्ष्योंका ही है, कोई विवृत्ति ही है, कोई प्रवृत्ति और विवृत्ति पूर्णपक्ष दोनोंका है, तथा कोई अनुभवमय है—न प्रवृत्ति है और न विवृत्ति है । इनमें मूलप्रवृत्ति प्रवृत्ति ही है—समस्त कार्य-समूहकी मूलकारण है और जो विवृत्ति नहीं है—जिनका अन्य कोई कारण नहीं है । इस मूलप्रवृत्तिको प्रधान, बहुपानक और सद्वरजस्वमकी साम्याख्या भी कहा गया है । महत् आदि सात प्रवृत्ति और विवृत्ति दोनों हैं । प्रवृत्ति-में उलटती उत्पत्ति होती है, इसलिए ये विवृत्ति हैं और इन्द्रियादि मोलहके गणकी ये उत्पन्न करते हैं, इसलिए ये प्रवृत्ति भी हैं । मोलहका समूह निरर्थक विवृत्ति है । अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भुज ये मोलह केवल दूगरांति उत्पन्न होते हैं, किसी अन्यको उत्पन्न नहीं करते । पुण्य न प्रवृत्ति है और न विवृत्ति । वह न किसीको उत्पन्न करता है और न किसीसे उत्पन्न होता है । अतः वह अनुभवमय है । इस तरह इन चार

१. 'इष्टमानुमानमाप्तवचनं च सर्व-प्रमाण-गिरिवान् ।

प्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयमिष्टिः प्रमाणादि ॥'

—सांख्यका० ४ ।

२. 'मूलप्रवृत्तिरविवृत्तिर्महदाद्याः प्रवृत्ति-विवृतयः सप्त ।

पौटशब्दस्तु विकारो न प्रवृत्तिर्न विवृत्तिः पुरयः ॥'

—सांख्यका० ३

'मक्षेपतो हि साक्षात्पर्यस्य चतस्रो विधाः । कश्चिदर्थः प्रवृत्तिरेव कश्चिदर्थो विवृत्तिरेव, कश्चिप्रवृत्तिविवृत्तिः, कश्चिदनुभवमयः ।'

—सांख्यतत्त्व० पृ० १४ ।

अर्थसमूहोंमें से पञ्चीय तत्त्व आ जाते हैं जिनका सांख्य-शास्त्रमें<sup>१</sup> निम्न प्रकार प्रतिपादन किया गया है :

प्रकृतिसे महत्-तत्त्वकी, महान्से अहङ्कारकी, अहङ्कारसे सोलह ( पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, एक मन और पाँच तन्मात्राओं) की और सोलहमें आयी हुई पाँच तन्मात्राओंसे पाँच भूतोंकी उत्पत्ति होती है। ये पौबीय तत्त्व हैं। पञ्चीसवीं तत्त्व पुरुष है जो निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य, व्यापक और ज्ञानादि परिणामोंसे शून्य केवल चेतन है। यह पुरुष-तत्त्व अनेक है और सबकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। प्रकृति परिणामी-नित्य है। इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है। यह एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य है और महान् आदि विकारोंको उत्पन्न करती है<sup>२</sup>। कारणरूप प्रकृति 'अव्यक्त' कही जाती है और उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य-रूप परिणाम—महदादि 'व्यक्त' कहे जाते हैं। इस तरह सांख्योंने प्रकृति अथवा प्रधानपर, जो सामान्यरूप है, अधिक बल दिया है, और इस लिए इनका यह प्रकृतिवाद सामान्यवाद कहा गया है। पुरुषको सांख्य मानते अवश्य हैं, पर वह पुष्कर-पलाशके समान निर्लेप है। उसे न बन्ध होता है और न मोक्ष। बन्ध और मोक्ष दोनों प्रकृतिको ही होते हैं<sup>३</sup>। हाँ, प्रकृतिके

१. 'प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः ।  
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चम्यः पञ्च भूतानि ॥'

—सांख्यका० २२ ।

२. 'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।  
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥'

—सांख्यका० ११ ।

३. 'तस्माच्च बध्यतेऽद्वा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।  
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥'

—सांख्यका० ६२ ।

द्वारा सम्पादित भोगका वह मात्र भोक्ता है। ज्ञान पुरुषका धर्म न होकर प्रकृतिका धर्म (परिणाम) है। और चैतन्य ज्ञानसे भिन्न पुरुषका स्वरूप है। बुद्धिरूप दर्पणमें<sup>१</sup> इन्द्रिय-विषयों और पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह प्रतिबिम्ब ही भोग है और उसका पुरुष भोक्ता है। प्रकृतिको जब यह ज्ञान हो जाता है कि 'इस पुरुषको तत्त्वाम्याससे' 'मैं प्रकृतिका नहीं हूँ और प्रकृति मेरी नहीं है' इस प्रकारका विवेक हो गया है और उसे मुझसे विरक्ति हो गई है,' तब वह उसका संसर्ग उसी प्रकार छोड़ देती है, जिस प्रकार नर्तकी दर्शकोंको अपना नृत्य दिखाकर नृत्यसे विरक्त हो जाती है<sup>२</sup>। फिर संबन्ध हो जाता है और प्रकृतिसे उस पुरुषका सदाके लिए संसर्ग छूट जाता है। इस प्रकार मारा खेल इस प्रकृतिका है।

जैन विचारकोंने सांख्योंकी इस तत्त्व-व्यवस्थापर गहराईसे विचार किया है और उसमें उन्हें अनेक दोष जान पड़े हैं। पहली बात तो यह है कि प्रधानका जैसा स्वरूप ऊपर दिखाया गया है वह न अनुभवमें आता है और न अनुमानादि प्रमाणसे सिद्ध है। प्रकृति जब जड़ है तब उसमें सत्त्व, रज और तमोगुण कैसे सम्भव हैं? घट, पट आदि किसी भी अवैतनमें उनका सद्भाव नहीं देखा जाता और जब

जैनों द्वारा सांख्यिक  
सामान्यवादपर  
विचार

१. 'बुद्धिद्वये पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः।  
तथा च इतिच्छायापन्नया बुद्ध्या संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या  
दृश्यः।'—योगसू० तत्त्ववे० २-२०।

२. 'पूर्वं तत्त्वाम्यासान्वास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।  
अविपर्ययादिशुद्धं केवलमुपपद्यते ज्ञानम् ॥'  
—सांख्यका० ६४।

३. 'रत्नस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यतः।  
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाशय विनिवर्तते प्रकृतिः ॥'  
—सांख्यका० ५९।



उनमें उनका सद्भाव नहीं है तब उनके कारण—प्रधानमें इन सत्त्वादि गुणोंका अस्तित्व असम्भव है। चेतन आत्मामें ही वे पाये जाते हैं। और तो क्या, इन तीनों गुणोंके कार्य, जो प्रसाद, प्रकाश, ताप, राग, द्वेष, मोह, शोष, सुख, दुःख आदि बतलाये गये हैं वे भी चेतन आत्माओंमें ही देखे जाते हैं, किसी अचेतनमें नहीं।

दूसरे, पृथिवी आदि भूतिक है और आकाश अमूर्तिक है, ये परस्पर विरोधी कार्य एक ही कारण ( प्रधान ) से कैसे उत्पन्न हो सकते हैं।

तीसरे, प्रधानसे महान्, अहंकार आदि जिन सत्त्वोंकी उत्पत्ति कही गयी है उनमें महान् तत्त्व तो बुद्धिरूप है और शेष सब अबुद्धिरूप है, ये सब विजातीय तत्त्व भी उसी एक कारणसे पैदा नहीं हो सकते। अन्यथा, अचेतन पञ्चभूत समुदायमें चैतन्यको उत्पत्ति भी क्यों नहीं मानी जाय और उन हालतमें चार्वाकोंका मत सिद्ध होगा, सांख्योका नहीं। वस्तुतः बुद्धि, जिसका काम जानना है, चेतन आत्माका ही परिणाम है, वह प्रधानका, जो सर्वथा अचेतन एवं जड़ है, परिणाम नहीं है।

कहा जा सकता है<sup>३</sup> कि जिस प्रकार एक ही स्त्री अनेक स्वामीको

१. 'अमूर्तस्याकाशस्य मूर्तस्य पृथिव्यादेर्भैरुकारणकत्वायोगात्।' प्रमेयरत्न० पृ० १५३।

२. 'अन्यथा, अचेतनादपि पञ्चभूतकदम्बकाचैतन्यसिद्धेश्चार्वाकमतसिद्धिप्रसंगात् साध्यगन्ध एव न भवेत्।' —प्रमेयरत्न० पृ० १५३।

३. 'एकैव स्त्री रूपर्यावनकुलशोलसम्पन्ना स्वामिर्न मुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः ? स्वामिर्न प्रति तस्याः मुखरूपसमुद्भवान्। सैव स्त्री सपर्यादुःखाकरोति, तत्कस्य हेतोः ? ताः प्रति तस्या दुःखरूपसमुद्भवान्। एवं पुरुषान्तरं सामविन्दमानं सैव मोहयति, तत्कस्य हेतोः ? तत्प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवान्। अनया खिया सर्वं भावा व्याख्याताः।' —सांख्यतत्त्व० पृ० ८१।

सुनो करती है; क्योंकि यह उनके प्रति सुगुह्य है। आनी मौनोंको दुःख उत्पन्न करती है; क्योंकि उनके लिए यह दुःसाध्य है और दूसरे पुरुषोंको वह मोहित करती है; क्योंकि उनके प्रति वह मोहक है। उगी तरह प्रकृति भी परस्पर-विरोधी सुख, दुःख और मोहक परितमनोंको पुण्यमें उत्पन्न करती है और इसलिए प्रकृतिमें उक्त प्रकारके कार्यादि माननेमें कोई अक्षमता नहीं है। यह कथन भी सुक्त प्रमाण नहीं होता, क्योंकि स्त्रीका उदाहरण विषय है। स्त्री चेतन है, और प्रकृति अचेतन। अतः स्त्रीको तो सुग्राह्य मानना उचित है, पर प्रकृतिको सुग्राह्य मानना उचित नहीं है। और इसलिए सुग्रादि-परिणाम-रहित अचेतन प्रकृति उन गुण-गुण-मोहादि-चेतन-परिणामोंका उपादान नहीं हो सकती। चेतन-परिणामोंका उपादान चेतन ही हो सकता है। वास्तवमें सुख, दुःख, मोह आदि अन्तःस्थित ही परिणाम है, उनके नहीं<sup>१</sup>। यदि कहा जाय कि सुग्रादि परिणाम अन्तःस्थित ही हैं, किन्तु वे प्रधानके हैं, प्रधानके संगर्भमें वे अन्तःस्थितके मातृम पड़ने लगने हैं, तो यह कथन भी बुद्धिको नहीं लगता, क्योंकि तत्संग-में यदि किसी वस्तु या वस्तु-धर्मकी व्यवस्था की जाये तो न किसी वस्तुकी और न उसके अगने किसी धर्मकी स्वतन्त्र व्यवस्था हो सकेगी<sup>२</sup>। अतः प्रतीतिके अनुसार वस्तु-व्यवस्था होनी चाहिए।

और, यदि प्रकृति ही वक्ष और मोक्ष होती है तो पुरुषकी कलना ध्ये<sup>३</sup> है। भक्तियोंके रूपमें उक्तकी कलना भी सुक्त नहीं है, क्योंकि बुद्धिमें

१. 'सुख-दुःख-मोहक्यनया धरादेस्त्वयामावाद्भवत्तत्त्वस्यैव तथो-  
पलम्बान् ।'—प्रमेयर० पृ० १५० ।

२. 'संगर्भाद्विभागश्रैद्योगोत्पत्तिरिति ।

भेदाभेदव्यवस्थायमुच्छिन्ना सर्ववस्तुना ।'

—प्रमेयर० पृ० १५१ ।

३. 'तदगम्यवतो नूनमन्यथा निष्कलः पुमान् ।

इन्द्रिय-विषयकी छाया पड़नेपर भी अपरिणामी पुरुषमें भोक्तृत्वरूप परिणमन नहीं हो सकता । तथा पुरुष जब सर्वथा निष्क्रिय एवं अकर्ता है तो वह भुजि-क्रियाका भी कर्ता नहीं बन सकता और तब वह 'भोक्ता' नहीं कहा जा सकता । कितने आश्चर्य तथा लोकप्रतीतिके विरुद्ध बात है कि जो ( प्रधान ) कर्ता है वह भोक्ता नहीं है और जो ( पुरुष ) भोक्ता है वह कर्ता नहीं है । जबकि यह लोकप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि 'जो करेगा वह भोगेगा ।' जो प्रधान ज्ञान-परिणामका आधार नहीं देता जाता, उसे उगका आधार माना जाता है और जो पुरुष 'ज्ञानस्वरूप स्वार्थम्यवगायी' रूपमें आता है उसका निरास किया जाना है, यह जैसी विचित्र बात है । ऐसी मान्यताओंको प्रेक्षायाभोंने 'दृष्टानिरदृष्टपरिकल्पना पार्श्वयमी' कहकर उन्हें अश्रेयस्कर बतलाया है । इसमें भी बढ़कर आश्चर्य तब होता है जब प्रधानको मोक्षमार्गका उपदेशक कहा जाता है और स्तुति ( पूजा-भक्ति-नमन ) मुमुक्षु पुरुषकी करते हैं ।<sup>१</sup>

पाँचवें, पुरुषमें यदि स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता और प्रवृत्ति न हो, तो प्रकृति-संतत्य उसमें बलात् रागादि पैदा नहीं कर

भोक्ताऽऽत्मा केम एवास्तु कर्ता तदधिरोधनः ॥  
विरोधे तु तयोर्मोक्षः स्वाद्भुजो कर्तृता कथम् ।'

—भाष्य० का० ८१, ८२ ।

१. 'ज्ञानपरिणामाश्रयस्य प्रधानस्यादृष्टस्यापि परिकल्पनायां ज्ञानात्मकस्य च पुरुषस्य स्वार्थम्यवसायिनो दृष्टस्य ज्ञानिः पार्श्वयसी स्यात् । "दृष्टानिरदृष्टपरिकल्पना च पार्श्वयमी" इति सकलप्रेक्षावतामभ्युपगमनीयत्वात् ।'—भाष्य० पृ० १८६ ।

२. 'प्रधानं मोक्षमार्गस्य प्रणेनृ, स्तूयते शुमान् ।

मुमुक्षुभिरिति, भूयात्कोऽन्योऽकिञ्चिदरात्मनः ॥'

—भाष्य० का० ८३ ।

सकता। ननकी उन्हीं पुरुषोंमें राग या विराग पैदा करती है जिनमें उसके प्रति राग या विराग भाव होता है। किसी घटे या लकड़ीमें वह राग-विराग भाव उत्पन्न नहीं करती। इससे स्पष्ट है कि जबतक पुरुषमें राग या विराग भावरूप होनेकी योग्यता न होगी, तबतक प्रकृति-समर्ग उसमें न अनुराग पैदा कर सकना है और न विराग। अन्यथा, मुक्त अवस्थामें प्रकृति-संसर्ग रहनेसे मुक्तोंके भी रागादि विकार उत्पन्न होना चाहिए। प्रधानकी मुक्तके प्रति निवृत्ताधिकार और संसारों आत्माके प्रति प्रवृत्ताधिकार मानकर भी उक्त दोषका निराकरण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रधानकी निवृत्तार्थ और प्रवृत्तार्थ इसलिए कहा जाता है कि पुरुष प्रकृतिसे संसर्ग छूट जानेपर संसारमें संसरण नहीं करता और उसका मर्ग रहनेपर वह संसारमें प्रवृत्त होता है। वास्तवमें निवृत्तार्थ और और प्रवृत्तार्थका ध्ववहार पुरुषकी ओरमें है, प्रकृतिकी ओरसे नहीं। इसके मतिरिक्त प्रधानमें विरोधी धर्मोंका अध्यास होनेसे वह एक और निरंश नहीं बन सकता।

छटे, अचेतन प्रकृतिको यह ज्ञान कैसे हो सकता है कि 'पुरुषको विवेक उत्पन्न हो गया है और वह मुझसे विरक्त हो गया है?' वास्तवमें पुरुष ही प्रकृतिसे संसर्ग करनेकी इच्छा करता है और विवेक होनेपर वह उससे छूटनेके लिए छटपटाता है। अतः पुरुषको ही परिणामि-नित्य तथा ज्ञान-स्वभाववाला मानना चाहिए और उसीकी श्रम एवं मोक्षका वास्तविक अधिकारी स्वीकार करना चाहिए।

सातवें, श्रम और पंगुके उदाहरण-द्वारा प्रकृति और पुरुषमें संसर्गकी कल्पना करके उससे जो पुरुषके दर्शन तथा प्रधानके वैयर्थ्य एवं शर्मात्पत्ति

१. 'केवलं मुक्तारमानं प्रति नष्टमपीतसांमानं प्रत्यनष्टं निवृत्ताधिकार-त्वात् प्रवृत्ताधिकारत्वाच्चेति, न, विरुद्धधर्माप्याप्तस्य तदवस्थत्वात्प्रधानस्य भेदानिवृत्तेः।'—आप्त० पृ० १५९।

ये दोनों भी दार्शनिक एवं परमाणुरूप हैं। ये ही प्रत्यक्षका विषय तथा अर्थ-क्रियासमर्थ होनेसे परमार्थसत् हैं<sup>१</sup>। इनसे विपरीत सामान्यलक्षण हैं<sup>२</sup>। ये स्वलक्षणात्मक विशेष परस्परमें असंगृह्य हैं और अत्यन्त निश्चयवर्ती हैं। इनमें हमें स्थिरता और स्थूलताका भ्रम होता है। पर वास्तवमें वे प्रति-क्षण विनश्वर और सूक्ष्मस्वभाव हैं। उन्हें अपने विनाशमें किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं हाती। जिन कारणोंसे उनकी उत्पत्ति होती है उन्हीं में उनका विनाश होता है और इसलिए उत्पत्तिके कारणोंसे अतिरिक्त कारण न होनेमें विनाशको निहेतुक माना गया है। प्रत्येक पुरुषाक्षर उत्तर-क्षणको उत्पन्न करता है और स्वयं विनष्ट हो जाता है। इस तरह पूर्वोत्तर-क्षणोंकी सन्नातिमें कार्य-कारणभाव आदिनी व्यवस्था है। पुरुषाक्षर कारण है तो उत्तरक्षण कार्य है।

यहाँ प्रश्न हो सनता है<sup>३</sup> कि परमाणुओंका परस्परमें संसर्ग क्यों सम्भव नहीं है? वे असंगृह्य ही क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ यदि सर्वात्मना संसर्ग हो तो दो परमाणु मिलकर एक हो जायेंगे। फलतः सब परमाणुओंका पिण्ड केवल एक परमाणुका ही प्रषय होमा; क्योंकि दूसरे सब परमाणु उसी एक परमाणुके

१. 'तस्य विषयः स्वलक्षणम्', 'वस्तुार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिमासभेदस्तत्स्वलक्षणम्', 'तदेव परमार्थसत्', 'अर्थ-क्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वास्तुनः'।

—न्यायवि० पृ. १८।

२. 'अन्यत्सामान्यलक्षणम्'—न्यायवि० पृ० १८।

३. 'स च संसर्गः सर्वात्मना न सम्भवति एव, एकपरमाणुमात्र-प्रचयप्रसंगात्। नाऽप्येकदेशेन, दिग्भागाभेदेन पद्मिः परमाणुमिरंकस्य परमाणोः संसृज्यमानस्य पटसंश्लेषत्वे, तत् पृथक्संस्थाः परमाणवः प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्त इति'—भाष्य० पृ० १७६।

उदरमें सत्ता आवेंगे । यदि एक देशमें वह नसर्ग हो तो छह दिनाओंमें छह परमाणुओं-द्वारा एक परमाणुके साथ सम्बन्ध होनेपर उस परमाणुके छह संस्र क्षयना करना पड़ेंगे । अतः केवल अमंसृष्ट परमाणु-युञ्ज हो निर्विकलक प्रत्यक्षका विषय है । अवयवी या सन्वादि नहीं ।

यह परमाणु-युञ्ज सन्निक है, क्योंकि अर्धक्रिया वस्तुवा स्रक्षण है और यह क्रिममें सम्भव है वही परमार्थमत् है । यतः नित्य और एकरस वस्तुमें यह अर्धक्रिया न तो क्रमसे सम्भव है और न युगपत् । अतः अर्धक्रियाके न बन स्रक्षनेके कारण कोई भी वस्तु नित्य और एकरसभाव नहीं है, अपितु सन्निक और नामास्वभाव है । तथा अपनी सामग्रीके अनुसार कार्योंत्पादक है ।

सांख्योंने क्रिम तरह जीव या चेतनकी 'पुण्य' नाम दिया है और उसे कारिणामी नित्य स्वीकार किया है, ठोक हमके विररीत बौद्धोंने 'जीव' को 'चित्त' कहा है और उसे प्रतिक्षण विनस्तर एवं नानाक्षणारत्मक माना है । ये चित्तक्षण परस्पर मिश्र हैं । उनमें इतना ही सम्बन्ध है कि पूर्व चित्तक्षण कारण है और उत्तर चित्तक्षण कार्य है । इनकी सन्तति अथवा धाराका प्रवाह अनवरत चालू रहता है । और तो क्या, चित्तक्षणोंकी यह परम्परा निर्वाण अवस्थामें भी विद्यमान रहती है । अन्तर इतना ही है कि संसार अवस्थामें यह साक्ष्य रहती है और निर्वाणमें वह निराक्ष्य हो जाती है । इस तरह शाश्वत चित्तसन्तति संसार है और निराक्ष्य चित्तसन्तति मोक्ष है । प्रदीपके निर्वाणकी तरह चित्तका निर्वाण होता है ।

वस्तुकी सर्वथा भेदरूप स्वीकार करनेसे बौद्धोंका यह मत विरोधकान्त, भेदकान्त, अनित्यत्वकान्त और विरोधवादके रूपमें प्रख्यात है ।

जैन दार्शनिकोंने बौद्धोंके इस मतपर पर्याप्त और विस्तृत ऊहापोह किया है और उन्हें यह मत भी दोषपूर्ण प्रतीत हुआ है । जैसा कि हम सांख्य-मतकी मोमामामें देख चुके हैं कि वस्तु न सर्वथा एक है और न सर्वथा नित्य है उन्ही तरह यह न सर्वथा पुण्य-युण्य अनेक है और न सर्वथा सन्निक ही प्रतीत

होती हैं । 'रत्नावली' का एक-एक मणि यदि सर्वथा अलग-अलग हो और उनमें अनस्यूतरूपमें सूतका सम्बन्ध न हो तो उन्हें 'रत्नावली' ( माला या हार ) नहीं कहा जा सकता । उसी तरह एक-एक दण अलग-अलग हों और उनमें अन्वयि द्रव्य न हो तो उन्हें 'वस्तु' संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती । सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, प्रेत्यभाव ये सब एकत्व ( द्रव्य ) के अभावमें सम्भव नहीं हैं ।<sup>१</sup> क्षणोंमें जब एकत्वान्वय सर्वथा है ही नहीं, तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, दत्तप्रहादिव्यवहार, स्वपति, स्वजाया आदि व्यपदेश उनमें कैसे बन सकते हैं ?<sup>२</sup> जिस चित्तक्षणने किसी चित्तक्षणको कुछ उधार दिया था वह तो नष्ट हो गया, दिये हुएका वापिसी ग्रहण कौन करेगा ? जिस प्रतिके

१. 'जहङ्गोय-रजस्तण-गुणा बैल्लियाई मणी विसंजुता ।

२. 'रयणावलि-यवपुर्म न लहंति महारथमुल्ला वि ॥

३. 'जह पुण ते चेव मणी जहागुणवितेसभागप्रक्षिप्ता ।

४. 'रयणावलि' ति मण्णइ जहंति पडिक्कसण्णाउ ॥

५. तह सम्भे जयवाया जहाणुरूपविणिउत्तवत्तव्या ।

६. 'सम्मईसणसई लहंति ण वितेसमण्णाभी ॥'

—सन्मति० १-२२, २४, २५ ।

७. तथा इसीके लिपु देखिण, वरोगपरित २६-२७, २८, २९ ।

८. 'सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः ।

९. 'प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिद्वये ॥'

—आप्तमी० का० २९ ।

१०. 'प्रतिक्षणं भक्षिषु तत्पृथक्त्वाच्च मातु-घातो स्वपतिः स्वजाया ।

११. दत्तप्रहो नाधिगत-स्मृतिर्न न कश्चार्थसत्त्वं न कुलं न जातिः ॥'

—युक्त्यनु० का० १६ ।

१२. तथा देखिण, आप्तमी० का० ४१ और युक्त्यनु० का० ११, १२, १३,

१४, १५, १६ ।

साथ स्त्रीका और जिन स्त्रीके साथ पुरुषका वैवाहिक सम्बन्ध हुआ था, उनका द्वितीय क्षणमें अभाव हो जानेसे न तो स्त्री 'यह मेरा पति है' और न पुरुष 'यह मेरी स्त्री है' का व्यपदेश कर सकेंगे ।

‘हम दार्शनिकवादमें मगने बड़ा दोष यह है कि निरन्वय नाशहीन क्षणोंमें कार्यकारणभाव भी नहीं बनता है । कारण उसे माना जाता है जिसके होनेपर कार्य उत्पन्न होता है और कार्य वह कहा जाता है जो कारणव्यापारके बाद पैदा होता है । बीड़ पूर्वक्षणको कारण और उत्तरक्षणको कार्य मानते हैं । परन्तु पूर्वक्षण जबतक रहता है तबतक उत्तरक्षण उत्पन्न नहीं होता । पूर्वक्षणके निरन्वय विनष्ट हो जानेपर ही उत्तरक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट पूर्वक्षण कारण ही नहीं सकता, क्योंकि वह है ही नहीं, चिरतर अनोख क्षणोंमें जैसे कारणता नहीं है ।’ इन्हीं तरह उत्तरक्षण पूर्वक्षणका कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह क्षमन् है । अन्यथा, आकाशपुच्छ, खरबिगान आदि भूतनाँकी भी उत्पत्तिल प्रगल्भ आवेगा । दूसरे, कार्यको भूतन् होनेपर उत्पादनका नियम नहीं बन सकता । जिन किन्ही अभावमें जिन किसी भी कार्यको उत्पत्ति होने लगेगी ।

‘दार्शनिकवादमें हिंसा, हिंसा-फल, हिंस्य, हिंसक, बन्ध, मोक्ष और आवापं-

१. ‘निरन्वयक्षणिक्षये कारणम्यैवामममवान् । तथा हि—न त्रिनष्टं कारणम्, अममवान्, चिरतरानामयन् । ... न हि समर्थेऽस्मिन् मनि स्वयमनुगित्मोः पश्चाद्वकनरूपकपक्षं समनन्तरत्वं वा, नित्ययन् । ...’  
—दृष्टम्० १० १८२ तथा आत्मो० का० ४३ ।

२. ‘यद्यप्यन् सर्वथा कार्यं तन्मात्रनि लक्ष्ययत् ।

मोक्षदाननिषयोऽभून्माऽऽद्यायः कार्यजन्मनि ॥’

—आत्मो० का० ४२ ।



शिष्य आदिकी भी व्यवस्था नहीं बनती है। जिस चित्तक्षणने हिंसाका अभिप्राय किया, उसने हिंसा नहीं की, किसी दूसरे ही चित्तक्षणने हिंसा की और जिसने हिंसा की उसे हिंसाका फल प्राप्त नहीं हुआ, किसी तीसरे चित्तक्षणको ही वह प्राप्त हुआ। इस तरह वस्तुको सर्वथा शानिक माननेमें 'हिंसा करनेवालेको ही हिंसा-फल प्राप्त होनेका' लोक-विश्रुत नियम नहीं बन सकता है। दूसरे, प्राणनाशका नाम हिंसा है और नाशको अहेतुक स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थितिमें किसीको हिंसक और किसीको हिंस्य नहीं माना जा सकता है। इसी तरह एक ही चित्तक्षणके बन्ध तथा मोक्ष भी नहीं बनते हैं। आचार्य और शिष्यका सम्बन्ध भी शानिकवादमें असम्भव है। प्रथम क्षणमें जिस चित्तक्षणने किसीसे पढ़ा वह द्वितीय क्षणमें निरन्वय विनष्ट हो जानेसे न शिष्य बन सकेगा और न पढ़ानेवाला उसका आचार्य हो सकेगा। इस तरह शानिकवादमें कोई भी तत्त्व-व्यवस्था उपपन्न नहीं होती।

जिन बहिरर्थ-परमाणुओं अथवा संवित्परमाणुओंको विशेष एवं स्वलक्षण कहा गया है वे न प्रत्यक्षसे सिद्ध हैं और न अनुमानादिसे प्रतीत होते हैं। स्थिर, स्थूलादि, नित्यानित्य और द्रव्य-पर्यायिक वस्तु ही प्रत्यक्षादिसे प्रतीत होती है। सामान्य-निरपेक्ष विशेष कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। वृक्षत्वसहित शिखापादि व्यक्तियों एवं गोत्वादिसहित शण्ड-मुण्डादि गवादि

१. 'हिनस्त्यनमिसंधातु न हिनस्त्यमिसन्धिमतु ।

वदथते तद्द्वयापेक्षं चित्तं नदं न मुच्यते ॥

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः ।

चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाप्याहहेतुकः ॥'

—आप्तमी० का० ५१, ५२

२. 'न शास्त्र-शिष्यादि-विधिव्यवस्था ।'

—युक्त्यनु० का० १० ।

व्यक्तियोंका हमें ज्ञान होता है। नरेन्द्रसेनने बोद्धोके इस विशेषवादकी सबलताके साथ आलोचना की है और कुमारिलकी 'सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्देव हि' इस युक्तिद्वारा उसे नरविषाणकी तरह अवस्तु सिद्ध किया है। अतः बोद्ध-परिवर्तित विशेष भी प्रमेय अर्थात् प्रमाण-विषय नहीं है। प्रमाणका विषय सामान्य-विशेषात्मक वस्तु है।

( ६ ) सामान्यविशेषोभय-परीक्षा :

बौद्धिकोंकी मान्यता है कि केवल सामान्य अथवा केवल विशेष प्रमाण-का विषय—प्रमेय—वस्तु नहीं है, किन्तु दोनों स्वतन्त्र—परस्परनिरपेक्ष सामान्य और विशेष प्रमाणका विषय अर्थात् वस्तु है। उनका कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह ही भाव पदार्थ<sup>१</sup> हैं और ये एक-दूसरेमें गर्वया भिन्न हैं; क्योंकि इनका अलग-अलग प्रत्यय होता है। 'द्रव्यम्' ऐमा प्रत्यय होनेसे द्रव्य-पदार्थ, 'गुणः' ऐमा प्रतीति होनेसे गुण-पदार्थ, 'कर्म' ऐमा ज्ञान होने से कर्म-पदार्थ, 'सामान्यम्' इस प्रत्ययसे सामान्य-पदार्थ, 'विशेषः' इस प्रत्ययसे विशेष-पदार्थ और 'इहेइम्'—'इममें यह' इस प्रचारके प्रत्ययसे समवाय-पदार्थ सिद्ध होते हैं। इस प्रत्ययभेदके अतिरिक्त गवया लक्षण भी भिन्न-भिन्न है। द्रव्य उसे कहा गया है जो गुणवाला, क्रियावाला और समवायिकारण है। गुण यह है जो द्रव्यके आश्रय रहता है और स्वयं निर्गुण एवं निष्क्रिय है। उत्प्रेषणादि परित्यज्यनरूप क्रियाका नाम कर्म है। अनेक व्यक्तिवर्गमें रहने वाला सामान्य है। नित्य द्रव्योंमें रहने वाला तथा उनमें

१. 'अभाव' नामका एक मानवी पदार्थ भी बौद्धिकोंने स्वीकार किया है, किन्तु उसका ज्ञान निःश्रेयसका कारण न होनेसे उसे न सामान्यकी संज्ञा प्राप्त है और न विशेषकी। अतः उसका उल्लेख अप्राप्तिक है।

परस्पर भेद-व्यवहार करानेवाला विशेष है। और अमृतसिद्धोंमें होने वाले सम्बन्धका नाम समवाय है। इसी तरह सबके कारण मिश्र है, व्यर्थक्रिया मन्त्रकी जुड़ी है और कार्य भी सबके अलग-अलग है। अतः ये छह ही पदार्थ हैं और परस्पर सर्वथा मिश्र हैं।

इन छह पदार्थोंमें द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन पदार्थ व्यक्ति—विशेष रूप हैं। सामान्य स्वयं सामान्य (जाति) रूप हैं। अन्य दर्शनोंमें अस्वीकृत एवं इस वैशेषिक दर्शनमें स्वीकृत विशेष विशेषरूप हैं ही और समवाय इन सबके सम्बन्धका स्थापक है। इस तरह वैशेषिकोंके ये छह पदार्थ सामान्य और विशेषरूप होनेके कारण उन्हें सामान्य-विशेषोभयवादी तथा उनके इस वादको सामान्यविशेषोभयवाद कहा गया है।

जैन दर्शनमें उनके इस स्वतन्त्र सामान्यविशेषोभयवादपर सभी जैन दार्शनिक क्लेशकोंने विचार किया है और उन्हें इसमें भी दोष जान पड़े हैं।

**जैनोंका** पहली बात तो यह है कि जो दोष एकान्ततः सामान्यवाद **उत्तर पक्ष** और विशेषवादके स्वीकार करनेमें दिये गये हैं वे सब स्वतन्त्र उभयवादके माननेमें भी प्राप्त हैं।

दूसरे, सब प्रकारसे वस्तुको सामान्यरूप मान लेनेपर फिर वह सब प्रकारसे विशेषरूप स्वीकार नहीं की जा सकती और सब प्रकारसे विशेष रूप स्वीकार कर लेनेपर वह सर्वथा सामान्यरूप नहीं मानी जा सकती और इस तरह स्वतन्त्र उभयवाद व्यवस्थित नहीं होता।

तीसरे, प्रत्ययभेदसे यदि पदार्थभेद स्वीकार किया जाय तो 'घटः, पटः, कटः' इत्यादि अनन्त प्रत्यय होनेसे घटपटादिको भी पृथक्-पृथक् अनन्त पदार्थ मानना पड़ेगा। अतः प्रत्ययभेद पदार्थ-भेदका नियामक नहीं है। जो अपने अस्तित्वको दूसरेमें नहीं मिलाता, दूसरेके आश्रित नहीं रहता और स्वतन्त्र है वही स्वतन्त्र और मिश्र पदार्थ मानने योग्य है। यद्यप्यंमे गुण-कर्मादि द्रव्यके विभिन्न धर्म अथवा परिणमन मात्र हैं, वे स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। ये द्रव्यके साथ ही उपलब्ध होते हैं, द्रव्यको छोड़कर नहीं और

इगलिंग् ये द्रव्यके आश्रित है और द्रव्यके परतन्त्र है । पदार्थ तो टीस और अरना स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाला होता है । यदि गुण-वर्मादि द्रव्यमें मिश्र पदार्थ हों तो 'अस्य द्रव्यस्य अयं गुणः'—'इस द्रव्यका यह गुण है' इत्यादि स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कोई नियामक नहीं है । समवाय स्वरूप और नियम है । वह भी उनका नियमन नहीं कर सकता । जगत्वा, त्रिम प्रकार महेस्वरमें जानका समवाय है उगी तरह आकाशमें जल (जान) का समवाय क्यों न हो जाय । अपि च, द्रव्य और गुण जब सर्वथा स्वतन्त्र एवं मिश्र हैं तो उनमें समवाय कैसे हो सकता है—उनमें तो संयोग ही सम्भव है ।

यदि कहा जाय कि द्रव्य और गुण अपुनमिद है । अतः उनमें समवाय ही सम्भव है, संयोग नहीं । संयोग तो युगमिदमें होता है । तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अपुनमिदत्व क्या है ? क्या अपुनमिदत्वका नाम अपुनमिदत्व है ? या पुनवर्तनकी अवस्थताका नाम है अथवा कर्माच्चिन् तादात्म्यका नाम है ? यदि अपुनमिदत्वकी अपुनमिदत्व माना जाय, तो वायु, धूप, छाया आदि भी अपुनमिद हैं और इसलिए उनमें भी द्रव्य-गुणादिकी तरह समवाय होना चाहिए और उन हालतमें उन्हें एक मानना पड़ेगा । फलतः पृथिवी आदि नौ द्रव्योंका प्रतिपादन विरुद्ध तथा अमंगल है । रूप, रस आदि भी अपुनमिद हैं और पुनवर्तनमें नहीं रहते हैं । अतः बीबीस गुणोंका कथन भी अमंगल है । इसलिए प्रथम पत्र तो खेदकर नहीं है । द्वितीय पत्र भी युक्त नहीं है, क्योंकि पुनवर्तनकी अवस्थता द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थोंमें है । अतः इनमें भी भेद न होनेपर द्रव्यादि पुनवर्तन छह पदार्थोंकी भी मान्यता समाप्त हो जाती है । तीसरा पत्र स्वीकार करनेपर जैन मान्यताका प्रमग आवेगा, क्योंकि जैन दर्शनमें ही द्रव्य और गुणादिमें कर्माच्चिन् तादात्म्य स्वीकार किया गया है, वैशेषिक दर्शनमें नहीं । अतः कर्माच्चिन् तादात्म्यकी छोड़कर समवाय मिद नहीं होना और

समवायके सिद्ध न होनेपर 'इस द्रव्यका यह गुण है' यह व्यपदेश नहीं बन सकता। इसी तरह द्रव्यमें द्रव्यका व्यपदेश भी द्रव्यत्वके समवायसे माननेपर वैशेषिकोंको समवायके होनेसे पहले द्रव्यका क्या स्वरूप है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। यदि कहा जाय कि द्रव्य ही द्रव्यका स्वरूप है तो यह कथन अयुक्त है, क्योंकि 'द्रव्य' संज्ञा द्रव्यत्वके समवायसे होनेके कारण वह उसका स्वरूप नहीं हो सकती। अगर कहा जाय कि द्रव्यका सत्त्व ही द्रव्यका निज स्वरूप है तो सत्त्वका भी सत्त्व नाम सत्ताके समवायसे माना गया है, अतः सत्त्वका भी सत्तासमवायसे पूर्व क्या स्वरूप है, यह प्रश्न उठता है, जिसका कोई समाधान वैशेषिकोंके यहाँ नहीं है। क्योंकि सत्त्वको स्वयं सत् माननेपर सत्ता-समवाय निरर्थक है और उसे स्वयं असत् स्वीकार करनेपर खरबिपाणादिकी तरह उसमें सत्ता-समवाय सम्भव नहीं है। इस तरह द्रव्यका अपना कोई स्वरूप नहीं बनता। इसी तरह गुण और कर्मके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए। सामान्य, विशेष और समवाय ये तीन पदार्थ ही स्वरूपसत् होनेसे सत् कहे जा सकते हैं। और इस प्रकार तीन पदार्थोंकी ही व्यवस्था बनती है।

पर ये तीन पदार्थ भी स्वतन्त्र और पृथक् सिद्ध नहीं होते। जहाँतक सामान्यका प्रश्न है वह एक-सी नानाव्यक्तियोंमें पाया जाने वाला भूयः-साम्य या सद्गुण परिणमनके अतिरिक्त अन्य नहीं है। समान व्यक्तियोंमें जो अनुगत व्यवहार होता है वह इसी भूयःसाम्य या सद्गुण परिणमनके कारण होता है। जिनकी अवयव-रचना समान है उनमें 'गौरयम्, गौरयम्', 'अश्वोऽयम्, अश्वोऽयम्', 'घटोऽयम्, घटोऽयम्' इत्यादि अनुगताकार प्रत्यय तथा व्यवहार होता है। यह सब व्यवहार लोकसंकेतपर आधारित है। लोगों ने जिसे समान रचनाके आधारपर 'गौ' या 'अश्व' या 'घट' का संकेत कर रखा है, उस समान रचनाको देखकर लोग उन शब्दोंका प्रयोग या व्यवहार करते हैं। 'गौ' आदिमें 'गोत्व' आदि कोई ऐसा सामान्य पदार्थ नहीं है जो

धरनो उन व्यक्तिओंसे स्वतन्त्र, नित्य, एक और अनेकानुगत सत्ता रखता हो और समवाय सम्बन्धमें उनमें रहता हो। यदि ऐसा सामान्य माना जाय तो वह विभिन्न देशोंमें रहनेवाली अपनी व्यक्तियोंमें सङ्गठित रहेगा या गर्वात्मना? यह प्रश्न उपस्थित होता है। सङ्गठित मानने पर उसमें सांघत्वका प्रसंग आवेगा—वह निर्दल नहीं रहेगा और गर्वात्मना स्वीकार करनेपर वह एक नहीं बन सकेगा। जिसने और जहाँ-जहाँ व्यक्ति होंगे उतने ही सामान्य मानने पड़ेंगे। अतः सादृश्यरूप ही सामान्य है और वह व्यक्तियोंका अपना धर्म है। 'सन्-नाम्', 'द्रव्यम्-द्रव्यम्' आदि अनुगत व्यवहार हमी सादृश्यमूलक है, स्वतन्त्र सामान्य या सत्तामूलक नहीं।

हमी तरह विगदुष माना व्यक्तियों या नित्य द्रव्योंमें रहनेवाला अपना अलग-अलग स्वभाव, धार्यव्य अथवा बुद्धिगम्य बेलगम्य ही विशेष है और यह उन व्यक्तियोंसे स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाला नहीं है, क्योंकि वह उन्हींका अपना उसी प्रकार धर्म है त्रिग प्रकार सादृश्य। त्रिग प्रकार एक विशेष दूसरे विशेषसे स्वतः व्यावृत्त है, उसका कोई अन्य व्यावर्तक नहीं है उसी तरह मनस्व व्यक्तियों और निग्यद्रव्य भी अपने असाधारण स्वरूपमें स्वतः व्यावृत्त हैं, उनकी व्यावृत्तिके लिए स्वतन्त्र विशेष नामके अनन्त पदार्थोंको माननेकी आवश्यकता नहीं है। सभी व्यक्तियों स्वयं विशेष हैं। अतः उन्हें अन्य व्यावर्तककी जरूरत नहीं है।

समवायको ही स्वतन्त्र पदार्थ माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि वह ही सम्बन्धियोंके सम्बन्धका नाम है और सम्बन्ध सम्बन्धियोंसे भिन्न नहीं होता। वह उनमें अभिन्न, अनित्य और अनेक होता है। समवायको नित्य, व्यापक और एक स्वीकार करने पर अनेक दोष आते हैं।

अतः वैशिष्टिकोंके यह पदार्थ, जो स्वतन्त्र सामान्य-विशेषोभयवादात्मक हैं, प्रमाणका विषय—प्रमेय नहीं है। नरेन्द्रसेनने हमकी समुचित आलोचना करते हुए बर्चचिन् सामान्यविशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक और गुण-गुण्यात्मक वस्तुको प्रमेय गिद्ध किया है।

## ( ई ) प्रत्यक्ष-परीक्षा :

प्रत्यक्ष-परीक्षा के वेदान्तिमार्गों का मन है कि यह प्रतिभामगमन जगत् मात्र प्रत्यक्ष है । प्रत्यक्ष के अनिवार्य अन्य कोई वस्तु नहीं है । वही प्रमाण का विषय वेदान्तिमार्गों के है । प्रत्यक्ष हो, चाहे अनुमान या आगम । सभी प्रमाणों का प्रमाण विधि की ही विषय करते हैं । प्रमाण दो एवं पक्ष प्रकार का है—१. निर्विकल्पक और २. तद्विकल्पक । निर्विकल्पक प्रत्यक्षों में मात्र सत्ता ही ज्ञान होता है । वह ज्ञान भूते व्यक्ति अथवा वस्तुओं के ज्ञान की तरह कुछ वस्तुबन्ध और परममगमन से रहित है । इस प्रत्यक्षों विधि की तरह निषेध भी जाना जाता है, जो ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह निषेध को विषय नहीं करता । तद्विकल्पक प्रत्यक्षों में मध्य 'यतः', 'यतः' इत्यादि भेदों की प्रतीति होती हुई ज्ञान पड़ती है, किन्तु वह मिथ्या है, अविद्या के द्वारा बना प्रतीत होता है । यथावतः वह सत्ता रूप से मुक्त पदार्थों का ही बोधक है । अतः तद्विकल्पक प्रत्यक्ष भी सत्ता मात्र का साधक है । और यह सत्ता परमब्रह्मरूप ही है । अनुमान भी सत्ता का ही साधक है । वह इस प्रकार है—विधि ही वस्तु है, क्योंकि वह प्रमेय है और चूँकि प्रमाणों की विषयभूत वस्तु को प्रमेय माना गया है, अतः सभी प्रमाण विधि ( भाव ) को ही विषय करने में प्रवृत्त होते हैं । मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत अभाव नाम का कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि समस्त विषयभूत अभाव कोई वस्तु ही नहीं है । अतएव विधि ही वस्तु है और वही प्रमेय है । एक अन्य अनुमान से भी विधि-तत्त्व की ही सिद्धि होती

१. देविए, मी० श्लो० प्रत्यक्ष सू० श्लोक १२० तथा यही 'प्रमाण-प्रमेयकविका' पृष्ठ ३० ।

२. देविए, मध्यमि० तर्कपाद श्लोक १ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ ३० ।

३. देविए, प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ ३० ।

४. देविए, मी० श्लो० पृ० ४७८ तथा प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ३० ।

है। यह अनुमान यह है—‘याम, उद्यान आदि पदार्थ प्रतिभासके अन्तर्गत हैं, क्योंकि वे प्रतिभासमान होने हैं। जैसे प्रतिभासका अपना स्वल्प।’ और प्रतिभास स्वयं परमब्रह्म है। आगम-वाक्य भी उसीके प्रतिपादक हैं। उनमें स्पष्टतया कहा गया है कि ‘जो हो चुका, हो रहा है और होगा, वह सब पुरुष (परमब्रह्म) ही है।’ जिस प्रकार बिन्दु आकाशको तिमिर-रोगी अनेक प्रकारकी चित्र-विचित्र रेखाओंसे सचित्र और विचित्र देखता है उसी तरह अविद्याके कारण यह निर्मल एवं निर्विकार ब्रह्म अनेक प्रकारके देश, काल और आकारके भेदोंमें युक्त, कल्पताको प्राप्त की तरह प्रतीत होता है।

यही ब्रह्म समस्त विश्वकी उत्पत्तिमें उसी तरह कारण है जिस तरह मकड़ी अपने जालमें, चन्द्रकान्तमणि जलमें और बट अपने विभिन्न प्ररोहोंमें कारण होते हैं।<sup>१</sup> जितने भेदारमक परिणमन दिखायी देते हैं उन सबमें उसी प्रकार सद्रूपका अन्वय विद्यमान है जिस प्रकार घट, पट्टी, मराच आदि मिट्टीके परिणामोंमें मिट्टीका अन्वय स्पष्ट देखा जाता है। अतः परमब्रह्म ही प्रमाणका विषय है—प्रमेय है।

१. ‘पुरुष एवेह सर्वं यद्भूतं यच्च माप्यम् ।’

—ऋक् सं० म० १०, सू० ८०, ऋ० २ ।

२. ‘यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।

सर्काणमिव मात्रामिश्रामिरमिमन्यते ॥

तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया ।

कल्पपद्ममिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति ॥’

—गृह्यसू० भा० वा० ३, ५, ४३-४४ ।

३. ‘उर्णनाम ह्वाङ्मनां चन्द्रकान्त ह्वाङ्ममाम् ।

प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥’

—उद्देश्य प्रमेयक० १० ६५ ।



जैन विद्वानोंने इस ब्रह्मवादपर विस्तृत विचार किया है और उसे युक्तिकी कसौटीपर रखकर उसका परीक्षण किया है। एक, नित्य, निरंश जैनों द्वारा और व्यापक परमब्रह्मके स्वीकार करनेपर सारी महायादपर लोक-व्यवस्था समाप्त हो जाती है। लोकमें नाना विचार क्रियाओं और नाना कारकोंका भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह भेद अद्वैतकान्तमें कैसे बन सकता है? एक ही वस्तु स्वयं उत्पाद्य और उत्पादक दोनों नहीं बन सकती है। पुण्य और पाप ये दो कर्म, सुख और दुःख ये उनके दो फल, इहलोक और परलोक ये दो लोक, विद्या और अविद्या तथा बन्ध और मोक्ष ये द्वैत-युगल अद्वैतवादमें असम्भव हैं।

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न होता है कि अद्वैत ब्रह्म प्रमाणसिद्ध है या नहीं? यदि प्रमाणसिद्ध है तो प्रमाणसे सिद्ध करनेसे पूर्व वह साध्य-कोटिमें स्थित रहेगा और प्रमाण साधन-कोटिमें, और उस हालतमें साध्य-साधन-का द्वैत अवश्य मानना पड़ेगा। उसे माने बिना अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि अद्वैत ब्रह्म प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, फिर भी वह स्वीकार किया जाता है तो द्वैतवादियोंका द्वैत भी क्यों न माना जाय।

प्रत्यक्षसे जो विधिकी प्रतीति कही गयी है और विधिको ही ब्रह्म बतलाया गया है वह भी युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्षसे जहाँ 'घटः सन्, पटः सन्' इस तरह घट-पटादिकी सत्ता प्रतीत होती है वहाँ घटसे भिन्न पट और पटसे भिन्न घटकी भी प्रतीति होती है। बिना भेदके अभेद स्वप्नमें भी प्रतीत नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष सत्ताकी तरह असत्ताको भी विषय करता है। और तब प्रत्यक्ष सत्ता-असत्ताद्वैतका साधक सिद्ध होता है—अद्वैतका साधक नहीं।

अनुमानसे ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर पक्ष, हेतु, दृष्टान्त और साध्यका भेद अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि उनके बिना अनुमान नहीं बनता और उस दशामें वही द्वैतका प्रसंग आता है। ऊपर जिन दो अनुमानों-का उल्लेख किया गया है वे दोनों अनुमान भी निर्दोष नहीं हैं। प्रमेयत्व

हेतु कालात्ययापदिष्ट है, क्योंकि 'विधि हो वस्तु है' यह पक्ष प्रत्यक्षवाचित है। प्रत्यक्षसे निषेध भी प्रतीत होता है। प्रतिभासमानत्व हेतु भी सदोष है, क्योंकि ग्राम, उद्यान आदि पदार्थ प्रतिभासके विषय हैं, स्वर्ध प्रतिभास नहीं है। जैसे दीपक आदि प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले घटादि पदार्थ प्रकाशमे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं और उनमें प्रकाश-प्रकाशक-भाव है उसी तरह प्रतिभास तथा प्रतिभास्य-पदार्थोंमें प्रतिभास्य-प्रतिभासक-भाव है। दोनोंको एक सत्ता कदापि नहीं हो सकती।

आगम-वाक्योंसे ब्रह्मकी सिद्धि माननेपर यह प्रश्न होगा कि वे आगम-वाक्य ब्रह्मसे भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न हैं तो अद्वैत कहाँ रहा ? और यदि अभिन्न हैं तो ब्रह्मकी तरह वे आगम-वाक्य भी माध्य-कोटिमें आ जायेंगे। यदि कहा जाय कि यह सब अविद्या-जन्य व्यवहार है और अविद्या अपरमार्थ है—बहु परमार्थ अद्वैत ब्रह्ममें कोई बाधा नहीं पहुँचा सकती, तो यह बहना संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अविद्या जब अपरमार्थ है तो उसकी आड़ लेकर अद्वैत ब्रह्मका संरक्षण नहीं किया जा सकता। मतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमवाक्य ये सब यदि अपरमार्थ हैं तो उनसे होने वाली एकमात्र ब्रह्मकी सिद्धि भी अपरमार्थ ही होगी। इसके साथ ही यह प्रश्न भी होता है कि वह अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो द्वैत प्रसक्त होता है। और यदि अभिन्न है तो वह भी ब्रह्मकी तरह परमार्थ या उसकी तरह ब्रह्म भी अपरमार्थ सिद्ध होगा। अविद्याको भिन्नाभिन्नादि विचारोंसे रहित मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि इतरेतरभाव आदिकी तरह अवस्तु होनेपर भी वह भिन्नाभिन्नादि विचारोंका विषय हो सकती है। एक बात और है। जब ब्रह्मसे भिन्न या अभिन्न वास्तविक अविद्या है ही नहीं, तो आत्मस्ववर्ण, मनन और निदिध्यासनद्वारा जिसकी निवृत्ति की जाती है ?

'सब प्राणी एक हैं, सबमें ब्रह्मका अंश है, सबको एक दृष्टिसे देखना चाहिए।' आदि एक प्रकारकी भावना है और तत्त्वज्ञान दूसरी बात है।

प्रत्यक्षसे जब हमें जड़ और चेतन भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं और जड़ त चेतन भी देता, काल एवं आकारकी परिधिको लिये हुए अनेक मालूम रहे हैं तो उनका लोप कैसे किया जा सकता है ? तत्त्वकी व्यवस्था प्रतीति आधारपर होनी चाहिए । हाँ, सत्सामान्यकी दृष्टिसे वस्तु एक हो कर द्रव्य, गुण, पर्याय आदिके भेदसे वह अनेक है । अतः वस्तु कथंचित् एक और कथंचित् अनेकरूप है और यही कथंचित् एकानेकात्मक, भेदा-भेदात्मक अथवा सामान्यविशेषात्मक वस्तु—प्रमेय है—प्रमाणका विषय है । प्रमाणप्रमेयफलिकामें यही अनेकान्त-दृष्टि प्रस्तुत की गयी है और सप्त-मङ्गीप्रक्रियाद्वारा उसे सिद्ध किया गया है ।

### ( उ ) घक्तव्याघतज्यतत्त्व-परीक्षा :

बौद्ध तत्त्व ( स्वलक्षणात्मक वस्तु ) को अवक्तव्य मानते हैं । उनका कहना है कि विकल्प और शब्द दोनों ही अनर्थजन्य हैं और इसलिए वे अर्थको विषय नहीं करते हैं । उनके द्वारा तो केवल विवक्षा अथवा अन्यापोहमान कहा जाता है । अर्थ उनके द्वारा अभिहित नहीं होता । वह केवल निविकल्पक प्रत्यक्षका विषय है । शब्द अवस्तु है और अर्थ वस्तु । अतः अवस्तु और वस्तुमें क्या सम्बन्ध ? जब उनमें सम्बन्ध ही सम्भव नहीं है तब शब्दके द्वारा अर्थ ( स्वलक्षणात्मक तत्त्व ) कैसे वाच्य हो सकता है ? अतएव तत्त्व अवक्तव्य है ।

बौद्धोंकी यह मान्यता स्पष्टतया स्ववचन-बाधित है । जब तत्त्व अवक्तव्य है तो 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी उगका कथन नहीं किया जा सकता है । यदि उसे 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा 'अवक्तव्य' कहा जाता है तो यह 'अवक्तव्य' शब्दका वाच्य सुतरां हो जाता है । दूसरे, यदि शब्द अपने-का नहीं कहते—वे केवल अन्यापोह रूप सामान्यका ही प्रतिपादन करते हैं तो बुद्धका समस्त उपदेश वस्तु-प्रतिपादक न होनेसे मिथ्या ठहरता है और तब बुद्धके उपदेश तथा कपिलके उपदेशमें कोई अन्तर नहीं रहता । तीसरे, यदि वस्तु और वस्तु-धर्म सभी अवक्तव्य हैं तो शब्दोंका प्रयोग

विषय लिए बिना जाता है ? आसन्न्य है कि दार्श्यों-द्वारा जो कहा जाता है वह अवस्तु है और जो वस्तु है वह उनके द्वारा कही नहीं जाती । ऐसी स्थितिमें दार्श-प्रयोग बिना दूसरोंको वस्तु-प्रतिपत्ति ब्रमे कराया जा सकती है ? क्योंकि पराये-प्रतिपत्ति का एकमात्र साधन दार्श ही है और वे अर्थ-प्रतिपादक हैं नहीं । अन्तर्गोपता बुद्धि सब देगता निरर्थक सिद्ध होती है । अतः दूसरों ( विनेयत्रों ) को वस्तु-प्रतिपत्तिकरणके लिए दार्शोंका प्रयोग आवश्यक है और उन्हें वस्तुका प्रतिपादक मानना चाहिए ।

अब, वास्तविक तात्त्वादि-परिस्फुरक कारणसे उत्पन्न होने वाले दार्श अवस्तु कैसे कहे जा सकते हैं ? अतः दार्श वस्तु है और अर्थ भी वस्तु है तथा दोनोंमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध मौजूद है । इसके साथ ही दार्शोंमें अर्थको प्रतिपादन करनेकी स्वाभाविक योग्यता और संवेत-शक्ति भी विद्यमान है । अतएव दार्श वस्तुके प्रतिपादक हैं । इससे स्पष्ट है कि तत्त्व अव-बन्धन नहीं है, किन्तु दार्शों-द्वारा वह वक्तव्य है । नरेन्द्रनेने इस सम्बन्धमें भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए स्वामी गमनाथदा मादि आचार्योंके वचनों-द्वारा बुद्धिवाक्ये साथ समर्थन दिया है कि वस्तु जिस प्रकार प्रमाण-द्वारा प्रमेय है उसी प्रकार वह दार्शों-द्वारा वक्तव्य भी है—वचनों-द्वारा वस्तुका प्रतिपादन भी किया जाता है ।

( ७ ) सामान्य-विशेषात्मक प्रमेय-सिद्धि :

ऊपरके विवेचनसे हम हम निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि प्रमेय—प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक, द्रव्यगुणात्मक, भेदाभेदात्मक एवं भावा-भावात्मक वस्तु है । प्रमाण इसी प्रकारकी आत्यन्तर वस्तुको विषय करता है । इस प्रकारकी प्रतीति-सिद्ध वस्तुको स्वीकार करनेमें विरोध, वैयर्थ्यकारण्य आदि कोई दोष नहीं है । समन्तभद्र, मिदसेन, ध्वजकृष्ण, विश्वानन्द आदि गुण-प्रतिनिधि जैन विद्वानोंने युक्ति-प्रमाण-पूरस्सर प्रमेयको सामान्यविशेषा-त्मक सिद्ध करके अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है । मिदसेनका सम्मिश्रण

तो इसका अद्वितीय प्रतिनिधि ग्रन्थ है। नरेन्द्रसेनने एकान्त-वादोंकी समीक्षा करते हुए अनेकान्तवादकी अतिसंक्षेपमें सुन्दर स्थापना की है और इस तरह उन्होंने पूर्वपरम्पराका विशदीकरण करके उसका समर्थन किया है।

इस तरह यह ग्रन्थका आभ्यन्तर प्रमेय-परिचय है।

## २. ग्रन्थकारः

### (क) ग्रन्थकर्ताका परिचयः

ग्रन्थके बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूपपर विचार करनेके बाद अब उसके कर्ताके सम्बन्धमें विचार किया जाता है।

ग्रन्थके अन्तमें एक समाप्ति-पुणिका-वाक्य उपलब्ध होता है और जो इस प्रकार है :

‘इति श्रीनरेन्द्रसेनविरचिताप्रमाणप्रमेयकलिका समाप्ता ।’

इस पुणिका-वाक्यमें इस रचनाको ‘श्रीनरेन्द्रसेन-द्वारा रचित’ स्पष्ट बतलाया गया है। अतः इसका तो निश्चित है कि इसके कर्ता श्रीनरेन्द्रसेन हैं। अब केवल प्रश्न यह रह जाता है कि ये नरेन्द्रसेन कौन-से नरेन्द्रसेन हैं और उनका समय, व्यक्तित्व एवं कार्य क्या है, क्योंकि जैन साहित्यमें नरेन्द्रसेन नामके अनेक विद्वानोंके उल्लेख मिलते हैं।

### (ख) नरेन्द्रसेन नामके अनेक विद्वान् :

१. एक नरेन्द्रसेन तो वे हैं, जिनका उल्लेख आचार्य वादिराजने किया है। वह उल्लेख निम्न प्रकार है :

विद्यानन्दमनन्तवीर्य-सुखार्थं श्रीपूज्यपादं दया-

पालं सन्मत्तिसागरं कनकसेनाराज्यमभ्युपगम्य ।

शुद्धयस्त्रीविनरेन्द्रसेनमकलङ्कं वादिराजं सदा

श्रीमत्स्वामिसमन्तमदमतुलं धन्दे जिनेन्द्रं मुदा ॥

—न्यायवि० वि० अन्तिम प्रशस्ति, श्लोक २ ।

इन नरेन्द्रसेनके बारेमें इस प्रशस्ति-पद्य या दूसरे साधनोंसे कोई विशेष

परिचय प्राप्त नहीं होता । बादिराजके इन उल्लेखरसे इतना ही ज्ञात होता है कि ये नरेन्द्रसेन उनके पूर्ववर्ती हैं और वे काफी प्रभावशाली रहे हैं । आश्चर्य नहीं कि बादिराज उनसे उपवृत्त भी हुए हों और इसलिए उन्होंने विद्यानन्द, अनन्तवोर्य, पुण्यनाद, दयापाल, मन्मथिमाधर, कनकसेन, अरुल्लु और स्वामी समन्तमद्र जैसे समर्थ आचार्योंकी श्रेणीमें श्रद्धाके साथ उनका नामोल्लेख किया है और उन्हें निर्दोश नीति ( चारित्र ) का पालक बताया है । बादिराजका समय उक्तमंत्र ९४७ ( ई० १०२५ ) है । अतः ये नरेन्द्रसेन शक० ९४७ से पूर्व हो गये हैं ।

२. हमारे नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनकी गुणस्तुति मल्लिपेन मूरिने 'गंगा-कुमारचरित' की अन्तिम प्रशस्तिमें इस प्रकार की है :

नरयानुजगद्धारिप्रवृत्तिः प्रलयानर्कीर्तिर्मुनिपुण्यमूर्तिः ।

नरेन्द्रसेनो जितवादिसेनो विज्ञानतत्त्वो जितकामसूत्रः ॥४॥

मल्लिपेनने इन नरेन्द्रसेनको यही जिनसेनका अनुज बतलाया है और उन्हें उज्ज्वल चरित्रका धारक, प्रज्ञानकीर्ति, पुण्यमूर्ति, वादिविजेता, तत्त्वज्ञ एवं कामविजयीके रूपमें वर्णित किया है । इनकी प्रशस्तिके पक्षमें पद्यमें उन्होंने अपनेकी उनका शिष्य भी प्रकट किया है । भारतीकल्प, काम-चाण्डालोक्त्य, पञ्चालीकल्प, भैरवपद्यादिकल्प सटीक और महापुराण इन ग्रन्थोंकी भी उन्होंने रचना की है<sup>१</sup> और इन ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें उन्होंने अपनेकी कनकसेनका<sup>२</sup> प्रशिष्य और जिनसेनका शिष्य बतलाया

१. देगिण्ड, पार्श्वनाथचरितकी अन्तिम प्रशस्ति ।

२. तच्छिष्यो त्रिवुधाप्रणामुष्णिनिधिः श्रीमल्लिपेणाह्वयः ।

संज्ञानः सकलागमेषु निपुणो वामदेवतालङ्कनिः ॥५॥

३. देगिण्ड, प्रशस्तिमंग्रह प्रस्तावना पृ० ६१ ( चौरसेनामन्दिर, दिल्ली संस्करण ) ।

४. बादिराजने भी एक कनकसेनका उल्लेख किया है, जो ऊपर

है। यद्यप्यमय नहीं कि जिनसेन और उनके अनुज नरेन्द्रसेन दोनों मल्लि-  
षेणके गुरु रहे हों—दोनोंमें उन्होंने भिन्न-भिन्न विषयों या एक विषयका  
अध्ययन किया हो। मल्लिषेण सकलागमवेदी, मन्त्रवादमें निपुण और  
उभय ( प्राकृत-संस्कृत )-भाषा विश्व में। महापुराणकी प्रशस्तिमें उन्होंने  
अपना समय शकसंवत् ९६९ ( ई० १०४७ ) दिया है। चादिराज और  
मल्लिषेण दोनों प्रायः समकालीन विद्वान् हैं—उनके समयमें तिरुं चाईम  
वर्षका अन्तर है। अतः मेरा अनुमान है कि जिन नरेन्द्रसेनका उल्लेख  
चादिराजने किया है उन्ही नरेन्द्रसेनने किया है। यदि यह  
अनुमान ठीक हो, तो प्रथम मं०के नरेन्द्रसेन और ये द्वितीय मं०के नरेन्द्र-  
सेन दोनों भिन्न नहीं हैं—अभिन्न ही हैं।

३. तीसरे नरेन्द्रसेन 'सिद्धान्तसारसंग्रह' और 'प्रतिष्ठादीपक'के कर्ता  
हैं, जो अपनेकी इन ग्रन्थोंकी अन्तिम समाप्ति-शुष्पिकाओंमें 'पण्डिताचार्य'  
की उपाधिसे भूषित प्रकट करते हैं।<sup>१</sup> इनके उल्लेख निम्न प्रकार हैं :

श्रीचरसेनस्य गुणादिसंज्ञो जातः सुशिष्यो गुणिनी विज्ञेयः ।

शिष्यस्तदीयोऽजनि चार्चितः सद्गुरुविस्तोऽत्र नरेन्द्रसेनः ॥

आनुपमा-निरुद्धवर्णिनि कालयोगे नष्टे त्रिनेन्द्रशिष्यवत्सर्गि यो पभूष ।

भा चुका है। जान पड़ता है कि ये कनकसेन और चादिराज-द्वारा  
उल्लिखित कनकसेन दोनों एक हैं।

१. देखिए, इन ग्रन्थोंकी प्रशस्तिमें चायका उक्त प्रशस्तिसंग्रह  
पृ० १३४ ।

२. (क) 'इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनाचार्य-  
विरचिते द्वादशोऽध्यायः । समाप्तोऽयं सिद्धान्तसारसंग्रहः ।'

—सि. सा. सं., जीधराज चैन ग्रन्थमाला, सोलापुर संस्करण ।

(ख) 'इति श्रीपण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनाचार्यविरचितः प्रतिष्ठादीपकः ।'

—देखिए, उपर्युक्त सि. सा. सं. प्रस्ता. पृ. ११ ।

आचार्यनामनिरनोऽत्र नरेन्द्रमेनस्तेनेदमागमवचो विशदं निबद्धम् ॥

—मिद्धान्तसा० प्रश्न० श्लोक ९३, ९५ ।

इन उल्लेखोंमें इन नरेन्द्रसेनने अपनेको बोरसेनका प्रशिष्य और गुण-सेनका शिष्य बनवाया है । पर इन्होंने अपने समयका कोई कहीं निर्देश नहीं किया । हाँ, जयसेनके धर्मरत्नाकरके आधारपर इनका अग्नित्व-काल विक्रमकी १२वीं शताब्दी ( ११५५-११८० ) समझा जाना है<sup>१</sup>, क्योंकि जयसेनके<sup>२</sup> धर्मरत्नाकरकी प्रशस्तिमें दी गयी गुर्वावली तथा नरेन्द्रमेनके मिद्धान्तसारसंग्रहकी प्रशस्तिमें उल्लिखित गुर्वावली दोनों प्रायः समान है । और उनसे ज्ञात होता है कि ये दोनों आचार्य एक ही गुहपरम्परामें हुए हैं और नरेन्द्रसेन जयसेनकी सीधे पीढ़ीके विद्वान् हैं । वे दोनों गुर्वावली यही दी जाती है :

धर्मरत्नाकरमें उल्लिखित गुर्वावली<sup>३</sup>—

धर्मसेन  
|  
छान्तिपेण  
|  
गोपसेन  
|  
भावसेन  
|  
जयसेन

१. देग्विण्ण, प्रश्न. सं. प्रस्ता. पृ. ५३ तथा सि. सा. सं. प्रस्ता. पृ. ९ ।

२. जयसेनने धर्मरत्नाकरका रचना-काल इसी ग्रन्थमें निम्न प्रकार दिया है :

माणेन्द्रिये च्यामं सोमं मिते ( १०५५ ) संवत्सर शुभे ।

ग्रन्थोऽयं मिद्वानां यातः मव(क)र्थाकरदाटकं ॥

३. देग्विण्ण, प्रशस्तिमं० पृ. ३ ।



गिद्धाभारमण्डमे दी गयी गुणवर्ती :



अतः जयमेनकी बीबी पीढ़ीमें होनेवाले से नरेन्द्रमेन यदि जयमेनमें, जिनका समय वि. सं. १०५५ निश्चित है, १००-१२५ गौ-संवाली वर्ष बाद होते हैं तो इन नरेन्द्रमेनका समय वि. सं. ११५५-११८० के लग-भग सिद्ध होता है। ये नरेन्द्रमेन मेवाड़ (मेठायें) नामके दशवें गणपदके नामान्तर प्रसिद्ध मेरुशट—मेवाड़ भूमिके अन्तर्गत 'छाड़वागड' प्रदेशमें निहले 'छाड़वागडसंध'के विद्वान् थे और उपर्युक्त दोनों नरेन्द्रमेनोंमे मिला एवं उत्तरवर्ती हैं।

४. चौथे नरेन्द्रसेन से हैं, जिनका उल्लेख बाण्डासंधके 'छाड़वागड-

१. देगिण, यही प्रशस्ति सं० पृ० १०३, १०४।

२. देगिण, यही प्रशस्ति सं० पृ० १०३, १०४।



में जाकर आश्रय लेना पड़ा था। परन्तु इसमें किसी भी विद्वान् के समयका उल्लेख न होनेसे उसपरसे इन नरेन्द्रसेनके समयका निर्धारण करना बड़ा कठिन है। पर हाँ, आगे हम 'रत्नत्रयपूजा' के कर्ता नरेन्द्रसेनका उल्लेख करेंगे, उसपरसे इनके समयपर कुछ प्रकाश पड़ता है। ये पद्मसेन-शिष्य नरेन्द्रसेन ऊपर उचित हुए प्रथम और द्वितीय नम्बरके जिनसेन-अनुज नरेन्द्रसेन तथा तीसरे नम्बरके गुणसेन-शिष्य नरेन्द्रसेनसे स्पष्टतः भिन्न और उनके उत्तरकालीन है।

५. पाँचवें नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनका उल्लेख 'वीतरागस्तोत्र'में 'उसके कर्ता द्वारा हुआ है। इस स्तोत्रमें पद्मसेनका भी उल्लेख है और ये दोनों विद्वान् स्तोत्रकर्ताके द्वारा गुरुरूपसे स्मृत हुए जान पड़ते हैं। श्रद्धेय पण्डित जुगलकिशोरजी मुस्तारने इस स्तोत्रके आठवें पद्यमें आये हुए 'कल्याण-कीर्ति-रचिताऽऽलम्ब-कल्पवृक्षम्' पदपरसे उद्ये कल्याणकीर्तिकी रचना अनुमानित किया है। स्तोत्रमें उल्लिखित ये पद्मसेन और नरेन्द्रसेन उपर्युक्त 'लाडवागङ्गाच्छ' की पट्टावलीमें गुरु-शिष्यके रूपमें वर्णित पद्मसेन और नरेन्द्रसेन ही मालूम होते हैं। यदि यह सम्भावना ठीक हो तो चौथे और पाँचवें नम्बरके नरेन्द्रसेन एक ही हैं—पृथक् नहीं हैं।

६. छठे नरेन्द्रसेन 'रत्नत्रयपूजा' (संस्कृत) के कर्ता हैं, जिन्होंने इसी पूजाके पुष्पिका-वाक्योंमें 'श्रीलाडवागङ्गीयपण्डिताचार्यनरेन्द्रसेन'के रूपमें अपना उल्लेख किया है। इसका एक पुष्पिका-वाक्य यह है :

१. इत्त गच्छके बारेमें शंका होना चाहिए।

२. 'धीर्जनसूरि-विनत-कम-पद्मसेनं हंला-विनिर्दलित-भोद-नरेन्द्रसे-म्'। —धनेकान्त चर्प ८, किरण ६-७, पृष्ठ २३३।

३. देखिए, वही धनेकान्त चर्प ८, किरण ६-७, पृष्ठ २३३।

४. देखिए, म० संप० पृष्ठ २५३, लेखांक ६३३।

‘इति श्रीलङ्कावर्मादीयपवित्राचार्यश्रीमच्छंभुमेन-रिरविने रत्नप्रय-  
पूजाविधाने दशमपूजा समप्ता ।’

मिथ्याभ्युपगम्यके कर्त्ता नरेन्द्रमेनकी भी ‘पवित्राचार्य’ उपाधि हम  
ऊपर देय चुके हैं और ये रत्नप्रयपूजाके कर्त्ता नरेन्द्रमेन भी धानेकी  
‘पवित्राचार्य’ प्रशंसा करते हैं। तथा ये दोनों ही विद्वान् ‘लाङ्कावर्मादयः’  
में हुए हैं। हमने इन दोनोंकी एकताकी प्राप्ति हो सकती है। पर ये दोनों  
विद्वान् एक नहीं हैं। मिथ्याभ्युपगम्यके कर्त्ता नरेन्द्रमेनने अपनी गुरु-  
परम्परा गाय दी है और गुणमेनको उन्होंने अपना गुरु बताया है। परन्तु  
रत्नप्रयपूजाके कर्त्ता न अपनी गुरुपरम्परा दी है और न गुणमेनकी अपना  
गुरु बताया है। दोनोंके अभिप्राय होनेकी दृष्टिसे दोनोंकी गुरुपरम्परा एक  
होनी चाहिये। यथार्थमें रत्नप्रयपूजाके कर्त्ता नरेन्द्रमेन मिथ्याभ्युपगम्यके  
कर्त्ता नरेन्द्रमेनके काफी उत्तरवर्ती हैं और इन्हे पद्ममेनका शिष्य तथा भीषे  
एवं चौबिसे शम्भरके नरेन्द्रमेनके अभिन्न होना चाहिए। ये तीनों नरेन्द्रमेन  
एक ही ‘लाङ्कावर्मादयः’ में और एक ही कालमें हुए हैं। नरेन्द्रमेन पद्म-  
मेनके शिष्य थे और उनके अन्वयमें हुए, किन्तु उनके गृहाधिकारी विभूषन-  
कीर्ति थे और विभूषनकीर्तिके पट्टपर धर्मकीर्ति बँटे थे। इन धर्मकीर्तिके  
उपदेशमें वि० सं० १४३१ में केरलियात्रीके एक मन्दिरकी प्रतिष्ठा हुई  
थी तथा ये धर्मकीर्ति पद्ममेनकी दूसरी पीढ़ीमें हुए हैं। अतः धर्मकीर्तिके  
समय वि० सं० १४३१ में से लगभग ५० वर्ष कम कर दिये जानेपर पद्म-  
मेनका समय वि० सं० १३८१ सम्भावित होता है और प्रायः यही काल  
उनके शिष्य नरेन्द्रमेनका बैठना है। अतः मिथ्याभ्युपगम्यके कर्त्ता नरेन्द्र-  
मेन ( वि० सं० ११५५-११८० ) ॥ २००-२२५ वर्ष बाद होनेवाले  
‘रत्नप्रयपूजा’ के कर्त्ता नरेन्द्रमेन ( वि० सं० १३८१ ) उनसे विभक्त

१. देखिए, अ० मंत्र० पृष्ठ २५३, श्लोकाङ्क ६३३ ।

२. ३. ४. देखिए, अ० मंत्र० पृष्ठ २५३, श्लोकाङ्क ६३५ ।

पूयक् और उत्तरवर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। 'पण्डिताचार्य' की उपाधि उनके भिन्न रहनेपर भी दोनोंकी सम्भव है। उससे उनकी अनेकतामें कोई बाधा नहीं आती। फलिजार्थ यह हुआ कि चौथे, पाँचवें और छठे में तीनों नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं और पहले, दूसरे एवं तीसरे नरेन्द्रसेनोंसे वे भिन्न हैं।

७. सातवें नरेन्द्रसेन वे हैं, जो शूरस्थ ( सेन ) गणके पुष्कर-गच्छकी गुरुपरम्परामें छत्रसेन ( वि० सं० १७५४ ) के पट्टाधिकारी हुए थे<sup>१</sup> और जिन्होंने शकसंवत् १६५२ ( वि० सं० १७८७ ) में कलमेस्वर (नागपुर) के एक जिनमन्दिरमें 'ज्ञानचन्द्र' की प्रतिष्ठा करवायी थी<sup>२</sup>।

इस तरह विभिन्न नरेन्द्रसेनोंके ये सात उल्लेख हैं, जो जैन साहित्यमें अनुसन्धान करनेपर उपलब्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त और कोई उल्लेख अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। हम ऊपर कह आये हैं कि पहले, और दूसरे ( जिनमेन-अनुज ) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं, तीसरे ( गुणसेन-शिष्य ) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं, चौथे, पाँचवें और छठे ( पद्मसेन-शिष्य ) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं तथा सातवें ( छत्रसेन-शिष्य ) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं।

१. 'श्रीमज्जैनमते पुरन्दरनुते श्रीमूलसंघे चरे  
श्रीशूरस्थगणे प्रतापसहिते सद्भूषण्डस्तुते ।  
गच्छे पुष्करनामके समभवत् श्रीसोमसेनो गुरुः  
तत्पदे जिनसेनसम्प्रतिरभूत् धर्माभ्यादेशकः ॥ १ ॥  
तज्जोऽभूच्चि समन्तगद्गुणवत् शास्त्रार्थपारंगतः  
तत्पटोदयतर्कशास्त्रकुशलो ध्यानप्रमोदान्वितः ।  
सद्विद्यामृतचर्पणैकजलदः धीछत्रसेनो गुरुः  
तत्पदे हि नरेन्द्रसेनचरणौ संपूजयेऽहं मुदा ॥ २ ॥'

—नरेन्द्रसेनगुरुपूजा, उद्धृत म० संग्र० पृ० २० ।

२. देसो, ज्ञानर्यत्र-लेख, उद्धृत म० संग्र० पृ० २०, लेखांक ६४ ।

इस प्रकार पृथक् एवं स्वतंत्र व्यक्तिगत रखनेवाले नरेन्द्रसेन नामके चार विद्वान् हमारे परिचयमें आते हैं और जो विभिन्न समयोंमें पाये जाते हैं । जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं ।

( ग ) प्रमाणप्रमेयकलिकाके कर्ता नरेन्द्रसेन :

उक्त नरेन्द्रसेनोंमें प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकलिकाके कर्ता सातवें नरेन्द्रसेन जान पड़ने हैं । हममें द्रव्यवा अन्तःपरीक्षण विशेष साक्षी हैं । उसपरसे यह जाना जाता है कि इसके कर्ता अर्वाचोन् हैं और वे तर्कशास्त्र-कुशल छत्रसेनके शिष्य सातवें नं० के नरेन्द्रसेन ही संभव हैं । 'नरेन्द्रसेन-गुरु-पूजा'में, जो एक सुन्दर संस्कृत-रचना है और जिसमें नरेन्द्रसेनकी गुण-स्तुति एवं यशोगान किया गया है, इनके गुरु छत्रसेनको 'तर्कशास्त्रकुशल' तथा दादागुरु समस्तभद्रको 'शास्त्रार्थपारंगत' कहा गया है<sup>१</sup> । इससे विदित होता है कि ये छत्रसेन-शिष्य एवं समस्तभद्र-प्रशिष्य नरेन्द्रसेन भी तर्कशास्त्री तथा 'शास्त्रार्थ-निपुण' अवश्य रहे होंगे । हमारी इस संभावनाकी पुष्टि इनके एक शिष्य अर्जुनमुन सोयरा-द्वारा शक संवत् १९७३ ( वि० सं० १८०८ ) में रचे गये 'कलास-छाप्य'से हो जाती है<sup>२</sup>, जिसमें अर्जुनमुन सोयराने नरेन्द्रसेनकी 'वादविज्ञेता' ( शास्त्रार्थी ) और सूर्यके समान 'तेजस्वी' बखलाया है<sup>३</sup> । प्रमाणप्रमेयकलिका इन्हीं छत्रसेन-शिष्य नरेन्द्रसेनकी रचना होनी चाहिए ।

१. दैगिण, अ० संग्र० पृ० २०, लेखांक ६६ ।

२, ३. 'तस पट्टे सुराकारनाम भट्टारक जानो ।

नरेन्द्रसेन पट्टधार तंत्रे मार्तण्ड वग्गनो ॥

जीर्ता वाद् पवित्र नगर चंपापुर माहे ।

करियो जिनप्रामाट् प्यजा गगने जड मोहै ॥२६॥'

( घ ) नरेन्द्रसेनकी गुरु-शिष्य-परम्परा :

( १ ) गुरु-परम्परा :

इन नरेन्द्रसेनके द्वारा सूरतके आदिनाथ चैत्यालयमें रहते हुए वि० सं० १७९०में प्रतिलिपि की गयी 'यशोधरचरित' की प्रतिमें तथा 'नरेन्द्र सेनगुरु-पूजा' में इनकी गुरु-परम्परा निम्न प्रकार पायी जाती है :

सोमसेन ( अभिनव सोमसेन )

|  
जिनसेन

|  
समन्तभद्र

|  
छत्रसेन

|  
नरेन्द्रसेन

काष्ठासंघ-मन्दिर, अंजनगाँवकी बिरुदावलीमें जो विस्तृत गुरु-परम्परा मिलती है उसमें उक्त नामोंके अतिरिक्त सोमसेनसे पूर्व गुणभद्र, धीरसेन, ध्रुवधर, माणिक्यसेन, गुणसेन, लक्ष्मीसेन, सोमसेन ( प्रथम ), माणिक्यसेन ( द्वितीय ), गुणभद्र ( द्वितीय )के भी नाम दिये गये हैं और अथन सोमसेनका 'अभिनव सोमसेन'के नामसे उल्लेख है । बिरुदावलीमें नरेन्द्रसेनके बाद उनके पट्टपर मीठनेवाले शान्तिसेनका भी निर्देश है । इन तीनों आधारोंसे सिद्ध है कि इन नरेन्द्रसेनके साक्षात् गुरु छत्रसेन और दादागुरु समन्तभद्र थे ।

( २ ) शिष्य-परम्परा :

इन नरेन्द्रसेनके दो शिष्योंके नाम मिलते हैं । एक तो उपर्युल्लिखित

१. देखिए, म० संग्र० पृ० २०, लेखांक ६५ तथा ६६ ।

२. देखिए, वही पृ० २३, लेखांक ७६ ।

शान्तिमेन है, जो उनके पट्टाधिकारी हुए थे ।<sup>१</sup> और दूसरे अर्जुनमुन गोयरा है, जिन्होंने 'कैलास-उष्यव' बनाया है और जिसमें उन्होंने अपने गुरु नरेन्द्रसेनकी चम्पापुर-यात्रा का भी वर्णन किया है ।<sup>२</sup> ये अर्जुनमुन गोयरा कृतस्य मायूम होने हैं । किन्तु शान्तिमेन उनके पट्टाधिकारी भट्टारक-विश्व थे । 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा' के बर्णों यदि इन दोनोंमें भिन्न हैं तो नरेन्द्रसेनके एक तीसरे भी शिष्य रहे, जिन्होंने उक्त पूजा लिखी है । शान्तिसेनकी एक शिष्या शिगरभी नामकी आदिवा थी, जिसका उल्लेख इहीं आदिवाक शिष्य बनारसीशमने सं० १८१६ में लिखी 'इतिहास राज'की प्रतिमें किया है ।<sup>३</sup>

(उ) नरेन्द्रसेनका समय :

नरेन्द्रसेनका समय प्रायः सुनिश्चित है । इन्होंने वि० सं० १७८७ में पूर्वोक्तलिखित 'ज्ञानयन्त्र'की प्रसिद्धा बरबासी थी और वि० सं० १७९० में पुष्पादनाके 'मनोपरचरित'की प्रसिद्धिपि स्वयं की थी । अतः इनका समय वि० सं० १७८७-१७९०, ई० सं० १७३०-१७३३ है ।

(घ) नरेन्द्रसेनका व्यक्तित्व और कार्य :

ये नरेन्द्रसेन एक प्रभावशाली भट्टारक विद्वान् थे । इनके प्रभावका गवने अधिक परिचायक 'कैलास-उष्यव'का वह उल्लेख है, जिसमें उन्हें 'चम्पापुर' नगरमें हुए एक 'बादशा निजेगा' कहा गया है और तेजप्रतिभा में 'मार्जक' बताया गया है । नरेन्द्रसेनने वहकि बागावरणकी प्रभावित कर वही त्रिनमन्दिरका निर्माण कराया था, जिसकी व्याख्या गणनमें कहता रही थी ।<sup>४</sup> इनके एक शिष्यने इनके प्रभाव और गुरु-भक्तिते प्रेरित होकर सङ्कृत में 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा' लिखी है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं । इनसे स्पष्ट है कि नरेन्द्रसेन एक वज्रस्वी, प्रभावक और वास्तवार्थनिपुण

१. २. देगिण, वही पृ० ३२, २१, सेलांक ७३, ६९ ।

३. देगिण, वही पृ० ३२, २१, सेलांक ७३, ६९ ।

४. देगिण, इसी प्रसङ्गकी प्रस्तावना पृष्ठ ५० का पादटिप्पण ।



विद्वान् ये तथा सांस्कृतिक एवं साधन-प्रभावी कार्योंमें वे व्यग्र रहते थे ।  
इन्होंने जो उत्कृष्टतम कार्य किये हैं वे निम्न प्रकार हैं :

१. प्रस्तुत 'प्रमाणप्रमेयकल्पा' की रचना ।

२. तत्कालीन पुरानी हिन्दीमें 'पार्श्वनाथपूजा' तथा 'वृषभनाथपूजा'  
इन दो जनोपयोगी 'भक्तिपूर्ण' रचनाओंका निर्माण । ये दोनों रचनाएँ अप्र-  
काशित हैं और हमें उपलब्ध नहीं हो सकीं । अतः उनके सम्बन्धमें विशेष  
प्रकाश नहीं देला जा सका ।

३. कलमेद्वर ( नागपुर ) के जिनमन्दिरमें इन्होंने श्रीगोपालजी  
मंदिरहाके द्वारा एक 'ज्ञानयन्त्र' की प्रतिष्ठा करवायी ।

४. सूरतके आदिनाथ चैत्यालयमें रहकर गुणदन्तके 'यशोधरचरित' की  
एक प्रति लिखी, जिससे इनके सास्त्र-लेखनकी विशेष प्रवृत्ति जानी जाती है ।

इस तरह साहित्य, संस्कृति और साधन-प्रभावनाके क्षेत्रमें इन्होंने अनेक  
कार्य किये हैं । इन कार्योंसे उनकी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक लगन, अभि-  
रुचि, धृष्ट, भिन्नता और साधन-प्रभावनाके प्रति विशेष अनुराग प्रकट  
होता है । ये तार्किक और धृष्टालू दोनों थे ।

## उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ और उसके कर्ताके सम्बन्धमें जो ऊपर विचार किया  
गया है उसमें ग्रन्थकी अन्तःसाक्षी और दूसरे साहित्यिक उल्लेख हैं । उन्हींके  
प्रकाशमें उक्त निष्कर्ष निकाले गये हैं । आशा है उनसे एक अभिनव  
ग्रन्थ और ग्रन्थकारके बारेमें कुछ जानकारी सामने आवेगी ।

२, धक्कूर १९६१ : गौधी-अवन्ती }  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,  
वाराणसी,

—दरबारीलाल कोठिया

## विषय-सूची

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मङ्गलाचरणम्	१
सम्बन्धिकाया	१-२
१. प्रमाणतत्त्वपरीक्षा	४-१८

( अ ) प्रमाद्वयमिममस्य ज्ञानुत्पादकस्य प्रामाण्य-

परीक्षणम्	४-६
ज्ञानुत्पादकरो भिन्नोऽभिप्रीक्षा	४
भेदे संव्यापिद्धिः	४
न क्रियात्मकोऽक्रियात्मको वा	५
क्रियात्मकत्वे वा क्रियाऽति भिन्ना अभिन्ना वा	५
अक्रियात्वस्यैव कथमगो व्यापारो नाय	५
अभिप्राये नु तयोरेककतावतिः	५
गुणरूपयोः निर्यादनिर्वाहः वा	६
निर्यादोऽर्पक्रियात्मकत्वः	६
अनिर्यादे चोत्पादककारणाभावः	६
आत्मन उत्पादककारणतयाभ्युपगमे तुल्य निर्यादेन	
पुनरेवोक्तिरुत्पत्तिः	६

( भा ) सान्ध-योगमिममाया इन्द्रियवृत्तेः प्रामाण्य-

परीक्षणम्	७-९
इन्द्रियवृत्तेरपेक्षितत्वेन तस्या अर्थप्रमिती नायकतामात्रायोगः	७
अपेक्षितत्वं चेन्द्रियाणां प्रकृतिपरिणामत्वात्	८



## विषय-सूची

ज्ञानेन व्यवहृतिस्वावयव न प्रामाण्यं सन्निकर्षस्य	१६
(ठ) स्वमतेन स्वार्थव्यवसायान्तरस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्य- मापनम्	१७-२२
साक्षादर्थप्रमिती सापक्षमत्वेन ज्ञानमेव प्रमाणमिति प्रतिपादनम्	१७
प्रमाणत्वाम्ययानुवर्ततेति हेतुनामि तस्यैव सिद्धिः	१७
प्रतिज्ञार्थकदेशागिद्धत्वनिर्गमः	१८
अर्थज्ञानस्य प्रमाणत्वे कलाभावप्रसङ्ग इति नैयायिका- पक्षेनिरासः	१८
प्रमाणस्य साधारण्यमज्ञाननिवृत्तिः	१८
परस्परानुवर्तं च हानोपादानोपेक्षा	१८
अर्थाः प्रत्यक्षेऽपि ज्ञानस्वार्थप्रवाधानस्य याम्यशास्त्रादेव	१९
ज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमिति सिद्धिः	२१
बौद्धाभिमतस्य अनुविषयत्वस्यैवैवमिति अविर्भावसिद्धेन व्यव- सायात्मकत्वमापनम्	२१
ज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमिति सिद्धिः	२२
स्वात्मनि क्रियाविरोधरहितहारः	२३

## २. प्रमेयत्वपरीक्षा २५-४६

(घ) ग्रामाण्यमेव प्रमाणस्य विषय इति मतस्य परीक्षणम् २५-२६	२५-२६
विशेषनिरपेक्षस्य ग्रामाण्यस्यागमवः	२५
कुमारिण्यवस्था समर्थनम्	२५
अनुमानेन केवलग्रामाण्यस्य निराकरणम्	२६
ग्रामाण्यं वास्तवमज्ञानं वेति निरूप्यादयेनामि ग्रामाण्यस्य निरासः	२६
वास्तवस्य धर्मो धर्मो वा	२६
धर्मस्य साधारणोऽप्यधारणो वा	२६

प्रमाणप्रमेयकलिका

परिमित्वे असिद्धमेव	२६
अवास्तवत्वे सौगतमतप्रसङ्गः	२६

(धा) विशेष षष्ठ प्रमाणस्य विषय इति सौगतमतस्य

परीक्षणम्	२७-३०
-----------	-------

सामान्यनिरपेक्षस्य विशेषस्याप्रतिभासः	२७
पूर्वपक्षिणा स्वतन्त्राणां विशेषाणां माधनप्रवासः	२७
प्रत्यक्षस्यानुमानस्य वा द्रव्यावाहकत्वम्	२७-२९
जैनेन पूर्वपक्षिणो निरासः	३०
प्रत्यभिज्ञानेन प्रमाणेन द्रव्यसिद्धिः	३०

(द) सापेक्षस्य सामान्यविशेषोभयस्य प्रमाणविषयत्वसिद्धिः ३१

प्रमेयत्वहेतुना जीवादिनिरपेक्षस्य सामान्यविशेषात्मकत्वसाधनम् ३१

तत्त्वस्य सामान्यविशेषात्मकत्वसाधने सप्तभङ्गोपयोगप्रदर्शनम्, ३१

(ई) वैशेषिकाभिमतस्य परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषोभयस्य  
प्रमाणविषयस्य निरासः ३१-३६

निरपेक्षोभयस्य प्रमाणविषयत्वे विरोधाद्युद्देशप्रसङ्गः	३१
स्यादादिनां तु जात्यन्तरस्वीकरणेन दोषाभावः	३२
द्रव्यादिपक्षा वदार्थानां भेदसाधने वैशेषिकाणां पूर्वपक्षः	३२
द्रव्यलक्षणम्	३३
गुणलक्षणम्	३३
कर्मलक्षणम्	३३
सामान्यलक्षणम्	३३
विशेषलक्षणम्	३४
समवायलक्षणम्	३४

द्रव्यादिभेदसाधने प्रयुक्तानां भिन्नप्रत्ययविषयत्वादीनां

हेतूनामपि द्रव्यादिदोषपरिहारः ३४

जैनानां उत्तरपक्षः ३५

## विषय-सूची

द्रव्याद् गुणादीनां भेदे अस्यायं गुण इत्यादिव्यपदेशाभावः	३५
व्यपदेशाभावश्च सयोगादिसम्बन्धार्थमवगन्तुं	३५
द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वेन समवायत्वोक्तारोऽपि न युक्तः	३५
अयुतसिद्धित्वात्तस्याप्यनुपातिः	३५
गुणगुण्यात्मकं द्रव्यपर्यायात्मकं आत्यन्तरमेव प्रमाणविषय- मिति प्रदर्शनम्	३६
(उ) परमब्रह्म एव प्रमाणस्य विषय इति वेदान्तिनां मतस्य परीक्षणम्	३६-४२
विधिरेव प्रमाणविषयः, विधिश्च परमब्रह्म एव इति प्रति- पादनम्	३६
निर्विकल्पकसद्विकल्पकभेदात् प्रत्यक्षं द्विविधम्	३७
ब्रह्माणः निर्विकल्पकप्रत्यक्षविषयत्वम्	३७
प्रत्यक्षं विधातुं, न निषेध इति प्रतिपादनम्	३७
सद्विकल्पकमपि तत्तद्ब्रह्मसाधकम्	३७
अनुमानादपि तत्सिद्धिः	३७
प्रत्यक्षादीनां प्रमाणाणां भावविषयत्वमेव	३७
अभावप्रमाणस्य तद्विषयस्य आभावस्य वेदान्तिना निरा- करणम्	३८
प्रमेयत्वेन हेतुना सर्वस्य तत्त्वस्य विधित्वसाधनम्	३८
प्रतिभासमानत्वेन हेतुनाऽपि विधिमात्रस्यैव सिद्धिः	३८
आगमोऽपि तदावेदकः	३८
अगमोऽपि तद्विवर्तत्वाद् हेतोः परमपुरुषसिद्धिः	३९
सर्वभेदानां तद्विवर्तत्वं च सत्त्वरूपान्वयसत्त्वात्	३९
जनैः ब्रह्मरूपस्य विधिमात्रतत्त्वस्य निराकरणम्	३९
यद्वैतब्रह्मसाधने प्रमाणाभावः	३९
प्रमाणाभ्युपगमे द्वैतसिद्धिप्रसङ्गः	३९

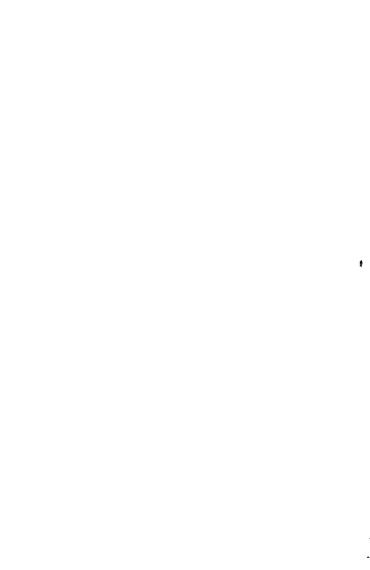
प्रमाणप्रमेयकलिका

लोकापेक्षायाऽपि प्रमाणाभ्युपगमः बालविलासः	३९
यथाकर्तृचित्प्रमाणमभ्युपगम्य तत्समालोचनम्	३९
विधिवत् निषेधोऽपि प्रत्यक्षतः सिद्धः	४०
प्रमेयत्वस्य हेतोः कालात्मयापदिष्टत्वम्	४०
प्रतिभासमानत्वमपि स्वतः परतो वा	४०
स्वतस्त्वे तदसिद्धम्, घटपटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वा- भावात्	४०
परतः प्रतिभासमानत्वं तु परं विना नोपपन्नम्, पराभ्युपगमे च द्वैतसिद्धिः	४०
भेदानो ब्रह्मविद्यार्तत्वमपि न युक्तम्, तस्य अन्वेतु-अन्वीयमान- द्वयाविनाभावित्वेन द्वैतसिद्धिप्रसङ्गः	४०
पक्ष-हेतु-दृष्टान्ताः परस्परभिन्ना अभिन्ना वा	४१
भिन्नत्वे द्वैतसिद्धिः	४१
अभिन्नत्वे तेषामेककृतापत्तिः	४१
हेतोरद्वैतसाधने पुनः द्वैतप्रसङ्गः	४१
हेतुना विना तत्साधने च वाङ्मात्रतः द्वैतस्यापि सिद्धिः	४१
अद्वैतकान्ते कर्मद्वैतादीनामभावः	४१
प्रकरणमुपसंहरन् सापेक्षमेव तत्त्वं प्रमाणविषयमिति सप्त- भङ्गीदिशा प्रदर्शयति	४१-४२
(ऊ) यत्कल्पयन्त्यस्य तत्त्व-विचारः	४३-४६
तत्त्वं सकलविकल्पवाग्नोचरातीतं ( व्यवक्तव्यम् ), केवलं निविकल्पकप्रत्यक्षगम्यमिति श्रोद्धानां पूर्वपक्षः	४३
जैनाः तत्समालोचयन्तः प्राहुः	४४
शन्दार्ययोर्वाभ्यवापकसम्बन्धसद्भावः	४४
सहजयोग्यतासङ्केतवशाच्छब्दोऽर्थज्ञानं जनयति	४४
विकल्पो न नामसंशय एव	४४

## विषय-सूची

॥ अ निश्चयात्परिविज्ञानरूपः	४४
तेन च यथावस्थितार्थप्रतिपत्ति-प्रवृत्ति-प्राप्तिः दृश्यते	४४
तत्र सकलविकल्पविकलं तत्त्वम्	४४
समस्तमद्राचार्यवचनेन सत्यमर्थम्	४४
पुनरपि तत्त्वं सामान्यविशेषात्मकं प्रमेयत्वहेतुना दृढमप्रा-	
हृष्टं न्यवृत्तः	४५
स्वीकृतं समस्तमद्राचार्यवचनेन प्रमाणयन्ति	४५
यदेवं तदर्थं न जैनानामेकसाधनाधिपत्यमित्याशङ्क्याः	
समाधानम्	४६





ॐ

श्रीनरेन्द्रसेनविरचिता

# प्रमाणप्रमेयकलिका

[ १. प्रमाणतत्त्व-परीक्षा ]

जयन्ति निर्जिताऽशेष-सर्वमैकान्त-नीतयः ।

सत्यवाक्याधिपाः शरवद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥१॥

[प्रमाण-प्रमेयद्वैविध्यात्तत्त्वं विमज्ज्य प्रथमं प्रमाणतत्त्वपरीक्षां प्रस्तूयते,—]

§ १. ननु किं तत्त्वम्, तदुच्यन्ताम् । यतस्तत्त्वपरिज्ञानाभावात् सदाभिता भीमांसा प्रमाणकोटिकुटीरकमटादृश्यते । आघातपरिज्ञाने आघेयपरिज्ञानाभावात् । अथ भवतु नाम नामतः सिद्धं किञ्चित्त्वम्, यतस्तत्त्वं सामान्येनाभ्युपगम्य पश्चाद्विचार्यते; तस्य सामान्ये केषांचिद्विप्रतिपत्त्यभावात् । तद्विचारणायां केनचिदप्रमाणेन भवितव्यम्, प्रमाणाधीनत्वात्प्रमेयस्य<sup>१</sup> । तत्रापि प्रमाण-

१. 'मा' प्रती 'ऊँ नमः सिद्धेभ्यः । अयं प्रमाणप्रमेयकलिका लिख्यते' इति, 'द' प्रती च 'अयं प्रमाणप्रमेयकलिका लिख्यते' इति प्रारम्भिकाया उपलभ्यते । तदनन्तरं जयन्तीत्यादिनिबद्धम् । २. अर्थं मङ्गलश्लोकः श्रीमद्विद्यानन्दविरचितायाः प्रमाणपरीक्षाया मङ्गलाचरणम् । तत्र एवात्र ग्रन्थवृत्तोद्गतः । स्वीयग्रन्थारम्भे मङ्गलरूपतया निबद्धश्च । ३. अत्रेदं विज्ञेयम्—'प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसंगः ।'—न्या० सू० २-१-१० । 'तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिक्त्वं प्रमेयसिद्धिः' ।

— इति सू० २-१-१८ । 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणादि ।' —सांख्यका० ४ ।  
 'प्रमाणसिद्धिः परतो वा स्यान् स्वत एव वा ? यदि यदा प्रमेयसिद्धिः  
 प्रमाणाधीना एव प्रमाणसिद्धिरपि प्रमानान्तराधीना इति तस्या-  
 प्यन्यत् तस्याप्यन्यत् इत्यनवरथा । अथ स्वत एव सिद्धिः, एवमपि यदा  
 प्रमाणस्य स्वत एव सिद्धिः तथा प्रमेयस्यापि प्रमेयान्तरा-  
 प्रमाणवत्त्वस्याकल्पनं न घटते ।' —तत्त्वार्थवार्तिक सू० १५ । 'ननु  
 प्रमाणसिद्धिः प्रमानान्तरतो यदि । तदानवस्थितिर्नो ध्येः प्रमानान्तर-  
 दूया ।' —तत्त्वार्थवार्तिक सू० १७८ । 'सकलशून्यतामनुगच्छताऽपि  
 प्रमाणाभावरूपं कर्तुमशक्यत्वात् । तथा हि—सकलशून्यतामनुगच्छताऽपि  
 प्रमाणम्, इष्टानिष्टयोः साधनदूषणान्यथानुपपत्तेः । न ध्वेयमनवरथा, इष्टमिष्टेः  
 अनिष्टप्रतिषेधस्य च प्रतिपक्षिणि प्रतिपक्षेण अक्षेपवादिना निर्विवादतः  
 प्रमानान्तरापेक्षानुपपत्तेः ।' —व्यासकु० सू० २२ । 'ननु सिद्धेऽपि प्रमाण-  
 तादृशे तत्त्वव्यवस्थितेऽपि निश्चयसिद्धिः, ज्ञानाज्ञानरूपतया तत्र वादिनां  
 विप्रतिपत्तेः ।' —व्यासकु० सू० २३ । विभिन्नवादिभिर्मयोनि प्रमाणलक्षणा-  
 न्यनुपपन्नानि तानीरूपम्—तत्र सांख्याः—'प्रमेयत्वेनेन इति निर्वचनान्  
 प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते । असन्दिग्धाऽविपरीतान्निमित्तविषया पित्तनुतिः  
 बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति ।' —सांख्यतत्त्वकौ०  
 सू० १९ । योगब० तत्त्वब० सू० २७ । 'द्वयोरेकतरस्य व्याप्यतन्निवृत्त्यर्थ-  
 परिणिष्ठितः प्रमा, तत्साधनतमे यत् तत् निर्वच्यं प्रमाणम् ।' —सांख्य१०  
 १-८७ । 'प्रमाणं वृत्तिरेव च ।' —योगशा० सू० ३० । चण्डोपनिषाः—  
 'अदुष्टं विद्या ।' —चण्डोपि० सू० १-२-१ । 'अदुष्टेन्द्रियजन्यं यत्र यदस्ति  
 तत्र तदनुभवो वा, विशेष्यवृत्तिप्रकारकानुभवो वा विद्या ।' —चण्डोपनिष-  
 सूत्रोपस्कार सू० ३४४ । नैयायिकाः—'उपलब्धिहेतुत्वं प्रमाणम् ।' —  
 न्यायभा० सू० ९९ । न्यायशा० सू० ५ । 'सम्पन्नानुभवसाधनं प्रमाणम् ।' —  
 न्यायसारा सू० १ । 'अभ्यन्तरिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधा-

मामान्ये न केपांषिद्विप्रतिपत्तिरस्ति, तद्विशेषे तु स्वरूप-संख्या-  
विषय-फलद्वयभाभ्युत्थो विप्रतिपत्तयो भवन्ति । ततो भवतां  
मते प्रमाणस्य किं स्वरूपम् । कति प्रमाणानि । को वा विषयः । किं  
वा फलम् इति ।

बोपरकभावा सामग्री प्रमाणम् ।—श्यामम्० पृ० १२ । 'तथापि नूतनो  
मानमनपेक्षप्रवेष्टे । मितिः सुन्दरं परिच्छिन्तिः तद्वत्ता च प्रामाण्यम् ॥  
तद्विषय-फलद्वयभाभ्युत्थः प्रामाण्यं गोचरे मते ।'—श्यामपुत्रम्० ४-५ । 'तद्वति  
तद्विषय-फलद्वयभाभ्युत्थ-प्रामाण्यं विच्छिन्नानुसारित्वं प्रमाणम् ।'—श्यामपुत्रम्० पृ०  
पृ० १ । 'गोचराय-प्रामाण्य-निश्चितत्वे च विप्रामाण्यं प्रमाणम् ।'—तर्कम्०  
पृ० १ । 'प्रमाणाः करण प्रमाणम् ।'—श्यामपुत्रम्० पृ० १ ।  
तर्कभावा पृ० २ । 'द्वयार्थं प्रमाणम् ।'—प्रमाणसंज्ञाटी० पृ० १ ।  
बोद्धाः—'स्वयं विप्रतिपत्तिः कर्तुं वाच्यं तद्विषय-फलद्वयभाभ्युत्थः । विप्रामाण्यं तु तद्वत्  
प्रमाणं तेन बोध्यते ॥'—प्रमाणसंज्ञाटी० पृ० २४ । 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्  
इति प्रमाणसामान्यसंज्ञा ।'—प्रमाणसंज्ञाटी० पृ० ११ । 'प्रमाणमवि-  
शेषादिज्ञानमर्थविप्रतिपत्तिः । अविप्रतिपत्तिः साध्येऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥'—  
प्रमाणसंज्ञाटी० २-१ । श्यामपुत्रम्० टी० पृ० ५ । 'अर्थानुसृत्य प्रमाणम् ।'  
श्यामपुत्रम्० पृ० २५ । 'विप्रामाण्यविप्रतिपत्तिः प्रमाणसंज्ञाविप्रतिपत्तिः । स्वयं विप्रतिपत्तिः  
प्रमाणं तु साध्येऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥'—तत्त्वम्० १३४४ । बोद्धाः—  
'अनुनूति-प्रमाणम् ।'—प्रकरणम्० पृ० ४२, साक्षरभाष्यवृत्तम्०  
१-१-५ । 'एतच्च विशेषणप्रत्ययानुसृत्यानेन सूत्रसारेण कारणदोषबाधक-  
ज्ञानरहितं अनुसृत्यादिज्ञानं प्रमाणं इति प्रमाणसंज्ञा मूत्रितम् ।'—  
साक्षरटी० पृ० १५२ । 'अविप्रतिपत्ति-प्रमाणम् इति मृदुलोभाभावा  
मातृः ।'—ति० चन्द्रोदय पृ० २० । 'तथापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधयितम् ।  
अद्विष्टकारणार्थं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥' कुमारिक, बोद्धाः-पृ० १० ।

[प्रभाकराभिमतस्य शास्त्रव्यापारस्य प्रामाण्यनिरासः—]

५ २. तत्रादौ साधकत्वरूपं जागर्ति—तदेतत्किं शास्त्रव्यापारः, इन्द्रियवृत्तिर्वा, कारकसाकल्यं वा, संनिकर्षो वा । शास्त्रव्यापारश्चेत्; स च शातुर्भिन्नोऽभिन्नो वा । भिन्नश्चेत्संबन्धासिद्धिः । भेदसंब-

१. 'ज्ञानं हि नाम क्रियात्मकं, क्रिया च फलानुमेया, शातुर्व्यापारमन्तरेण फलाऽनिष्पत्तेः ।'—भ्यायम० पृ० १७ । 'ननु सन्निकर्ष-कारकसाकल्य-इन्द्रियवृत्तीनाम् सव्यवस्यदुष्टत्वाभ्यामूत् प्रामाण्यम्, शातुर्व्यापारस्य तु न विज्यति, तमन्तरेण अर्थप्रकाशतास्य फलाऽनिष्पत्तेः । न हि व्यापारमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिः, अतिप्रसंगात् । कारकस्य कारकत्वमपि क्रियावैशेष्यादेव उपपद्यते, 'करोतीति कारकम्' इति व्युत्पत्तेः, इतरथा हि तद् वस्तुमात्रं स्यात्, न कारकम्, 'क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्' इत्यभिधानात् ।'....'तथा आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसम्प्रयोगे सति शातुर्व्यापारोऽर्थप्राक्कृत्यहेतुरूपजायते, अतोऽसौ प्रमाणम्, अर्थप्राक्कृत्यलक्षणे फले साधकतमत्वात्, यत्पुनः प्रमाणं न भवति न हत् तत्र साधकतमम्, यथा सन्निकर्षादि, साधकतमस्य तत्त्वज्ञाने फले शातुर्व्यापार इति ।'—भ्यायकु० पृ० ४१-४२ । 'एतेन प्रभाकरोऽपि 'अर्थतत्त्वावप्रकारको शातुर्व्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि प्रमाणम्' इति प्रतिपादयन् प्रतिष्पृष्टः प्रतिपत्तव्यः; सर्वत्राज्ञानस्योपचारादेव प्रसिद्धेः । न च शातुर्व्यापारस्वरूपस्य किञ्चित्प्रमाणं ग्राहकम्—तद्वि प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अन्यद्वा ?....'—प्रमेयक० पृ० २० । 'तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इज्यते । तदेव च प्रमाह्वं तद्वती करणं च धीः ॥ व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ।'—मीमांसाश्लो० पृ० १५२ । 'अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्य व्यापनः कर्मभूतस्य च अर्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तुर्व्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति ।'—शास्त्रदी० पृ० २०२ । २. किं च, असौ धर्मस्वभावः, धर्मस्वभावो वा ? प्रथमपक्षे शातुर्व्यन्त प्रमाणान्तरगम्यता ।

न्यायपुगमेऽतिप्रसंगः । यथा ज्ञात्रा सह संवध्यते तथा पदार्था-  
न्तरेणापि । भवतु वा यथाकथंचित् ज्ञानुरेव व्यापारः । स च किं  
क्रियात्मकोऽक्रियात्मको वा । यथाद्यः पक्षः, तदा सा क्रिया ततो  
भिन्नाऽभिन्ना वा । भिन्ना चेत्, पूर्वोक्तदोषानुपपन्नः । अथ पाश्चात्यः  
पक्षः, तदा घातुमात्रं क्रियामात्रं वा भवति । अधाक्रियात्मकः,  
कथं व्यापारो नाम । व्यापारस्य क्रियारूपत्वात् । तन्नासी  
भिन्नः । नाप्यभिन्नः, एकस्वरूपतापत्तेरनभ्युपगमाच्च ।

द्वितीयेऽपि पक्षे धर्मिनो ज्ञानुर्मतिरिक्तो व्यापारः अव्यतिरिक्तो वा,  
उभयम्, अनुभवं वा ? व्यतिरिक्तत्वं तत्त्वन्वयाभावः । अव्यतिरिक्तो  
ज्ञानैव तत्स्वरूपवत् । उभयपक्षे तु विरोधः । अनुभवपक्षोऽयमुक्तः; अयोग्य-  
व्यवच्छेदकत्वात् । सङ्गत् प्रतिषेधायोगात्, एकमिषेधेनापरविधानात् ।  
प्रमेयक० पृ० २४ । 'धर्मोऽति विमातमनो भिन्नः, अभिन्नो वा ?  
यद्यभिन्नः, तदा 'मातमैव' इति प्रमाणतानुपपत्तिः । चेदे तु न तत्त्वन्वयात्  
तस्येति व्यपदेशानुपपत्तिः ।'—न्यायकु० पृ० ४५ ।

१. 'तथापि क्रियाकृपः, अक्रियाकृतो वा स्यात् ? यदि क्रियाकृपः, तदा ज्ञौ  
क्रिया परित्यन्दस्वभावा, अपरित्यन्दस्वभावा ? तत्राद्यविकल्पोऽपेक्षितः; व्याप-  
कत्वेनाऽऽत्मनः तद्याभूतक्रियायत्त्वानुपपत्तेः ।'—द्वितीयविलम्बेऽपि अपरित्यन्दः  
परित्यन्दाभावः, वस्तुवन्तरं वा ? यदि परित्यन्दाभावः, तदाऽस्य फलजनकत्वा-  
नुपपत्तिः, अभावस्य कार्यकारित्वविरोधात् । वस्तुवन्तरमपि किं चिद्रूपम्,  
अचिद्रूपम् वा ? चिद्रूपमपि किं धर्मो, धर्मो वा ? यदि धर्मो तदासौ प्रमाणं  
न स्यत् आत्मवत् ।'—न्यायकु० पृ० ४४ । 'यतोऽसौ क्रियात्मकः,  
अक्रियात्मको वा ? प्रथमासौ किं क्रिया परित्यन्दात्मिका तद्विपरीता वा ?  
तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; निश्चलस्यात्मनः परित्यन्दात्मकक्रियाया अयोगात् ।  
नापि द्वितीयः, तद्याविषयक्रियायाः परित्यन्दाभावरूपतया फलजनकत्वादयो-  
गात्, अभावस्य फलजनकत्वविरोधात् ।'—प्रमेयक० पृ० २३ ।

§ २. किं च, असौ नित्योऽनित्यो वा ? न तावन्नित्यः, कार्य-  
त्वान्, घटवत् । नाप्यनित्यः, तदुत्पादककारणामायात् । तस्योत्पा-  
दकं कारणं तावदात्मा न भवति, तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् ।  
नित्यस्यार्थक्रियाकारित्वविरोधान् । अर्थक्रिया च क्रमयोगपक्षाभ्यां  
व्याप्ता, ते च नित्याग्रिवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियाभावात्  
निरवर्त्तते<sup>१</sup> । सापि स्वव्याप्यं सत्त्वम् । नित्यं स्वरविषाणसदृशं  
स्यात् । सन्न तादृशव्यापारः प्रमाणम् । तदभावात्कुतः प्रमेयसिद्धिः ।

१. 'किं च, असौ ज्ञातव्यापारः कारकजन्यः तदजन्यो वा ? न तावत्तद-  
जन्यः; तदाहि—ज्ञातव्यापारो न कारकजन्यः व्यापारत्वात्, पाचकादिव्यापार-  
वत् । किं च, असौ तदजन्यः सन् भावरूपः, अभावरूपो वा स्यात् ? अभाव-  
रूपत्वे अर्थप्रकाशनलक्षणफलजनकत्वविरोधः । अविरोधे वा फलाग्निः  
कारकत्वावैषण्यफलमेव स्यात्, विषयमदरिद्रं च स्यात् कारणभावादेवाऽखिल-  
प्राणिनामभिमतफलसिद्धेः । अथ भावरूपः; तथापि किमसौ नित्यः, अनित्यो  
वा ? नित्यत्वे सर्वस्य सर्वपदार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् प्रदीपादिकारकावैषण्य-  
वैयर्थ्यम्, अन्धमुष्ठादिभ्यश्च हारोन्नेदानुपपन्नं स्यात् । अथानित्यः—  
तथाप्यसौ कालान्तरस्यापी, शणिको वा ? प्रथमपक्षे—“शणिका हि सा  
न कालान्तरमवनिष्ठते” इति वचो विरुद्धपक्षे, द्वितीयपक्षे तु शणादूर्ध्वं  
अर्थप्रतिभासाभावप्रसङ्गात् अन्धमूर्कं जगत् स्यात् ।’—न्यायकु० पृ० ४४ ।  
प्रमेयक० पृ० २३ । २. 'नच नित्यैकरूपस्यापेरिणामिनो ज्ञानुरण्यस्य वा  
व्यापारादिकार्यकारित्वं घटते । एतच्च “अर्थक्रिया न युज्येत नित्यशक्ति-  
पक्षयोः” प्रपञ्चतः प्रतिपादितमस्ति ।’—न्यायकु० पृ० ४५ । 'अर्थ-  
क्रिया न युज्येत नित्यशक्त्यपक्षयोः । क्रमाऽक्रमाभ्यां भावानां वा  
लक्षणतया मता ॥’—सधौवद्वय का० ८ ।

[सांख्याभिमतया इन्द्रियवृत्तेः प्रामाण्यनिरासः—]

५४. नारीन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्, अर्थप्रमितौ साधकमन्वा-  
योगान् । तदयोगस्तच्चेदन्तवान् । न अचेतनोऽर्थः<sup>१</sup> करणम्,

१. गुणना—‘एतेनेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणमिष्यमिदधानः सांख्यः प्रत्याख्यातः।  
ज्ञानस्वभावमुक्त्यत्रमाणकरणत्वात् तत्रोदधारतः प्रमाणव्यवहाराभ्युपगमान् ।’  
—प्रमेयक० पृ० १९ । ‘इन्द्रियवृत्तेः अर्थप्रमितौ साधकमन्वेन प्रामाण्योपपत्तेः।  
इन्द्रियाणां हि वृत्तिः विद्यवाकारपरिणतिः । न तन्नु सैषा प्रतिनि-  
यनगन्तावाकारपरिणतिष्वतिरेकेण प्रतिनियतगन्ताछानोषर्षं पटते । अतौ  
विषयमन्वर्तन् प्रथममिन्द्रियाणां तादृश्यापत्तिः इन्द्रियवृत्तिः, तदनु विष-  
यकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्तिः । अथ कसाम्मनोवृत्तिः अश-  
व्युत्पत्त्यालम्बना न छान्ताछानम्बना ? इति चेत्; अदृष्टिर्वृत्तिश्चानु, अस्यया  
बाह्येन्द्रियवृत्त्यनानर्थक्यं इयान्, इत्यभिदधानः सांख्योऽप्येतेनैव प्रत्याख्यानः ।  
अचेतनत्वभावाया इन्द्रियवृत्तेरप्युपचारादप्यनोर्ध्वप्रमितौ साधकमन्वानु-  
पपत्तेः ।’—ग्यायक० पृ० ४० । ‘कृपादिषु वञ्चानामानोषनमात्रमिष्यते  
वृत्तिः ।’—सांख्यका० २८ । ‘बुद्धिरहङ्कारो मनः चक्षुः इत्येतेषां चत्वारि  
मुखाद् रूपं पश्यन्ति, अर्थं स्यान्तुः अर्थं पश्यन् इति—एवमेवां मुखादप्यनुष्ठ-  
यन्त्य वृत्तिः—क्रमस्तत्त्व—एवं बुद्धि-अहङ्कार-मनश्चक्षुषो ब्रह्मणो वृत्ति-  
दृष्टा, चक्षु रूपं पश्यन्ति, मनः संकल्पयति, अहङ्कारोऽभिमानयति बुद्धिर-  
प्यवगतिः’—भाट्टरघु० पृ० ४७ । ‘इन्द्रियप्रणालिक्रिया अर्थप्रतिषर्पण  
लिङ्गज्ञानादिना वा भासो बुद्धेः अर्थावारा वृत्तिः जायते ।’—सां० प्र० भा०  
पृ० ४७ । ‘इन्द्रियप्रणालिक्रिया वित्तस्य बाह्यवस्तूपासकान् तद्विषया छाना-  
म्यविशेषादमनोऽर्थस्य वितोपावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् ।’—योगव०  
भ्यासभा० पृ० २७ । ‘प्रमाता चेतनः बुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च । प्रमादर्था-  
वारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम् ।’—योगशा० पृ० ३० ।

१. ‘अचेतनोऽर्थकरणं’ पाठः ।



पटवत् । अचेतनत्वमिन्द्रियवृत्तेरिन्द्रियाणामचेतनत्वात् । अचेतनत्वं  
तेषां प्रकृतिपरिणामत्वात् । तथा चोक्तम्—‘प्रकृतेर्महान्’<sup>१</sup>...  
[सांख्यका-२२] इति । ततो नेन्द्रियवृत्तेरर्थप्रमिती साधकतमत्वम्,  
स्वप्रमितावसाधकतमत्वाद्, घटादिषु ।

५. किं च, इन्द्रियवृत्तिरिन्द्रियेभ्यो भिन्नाऽभिन्ना वा ? भिन्ना  
चेत्, कथमिन्द्रियवृत्तिः, अतिप्रसंगात् । भेदे सतीन्द्रियाणामेवेयं  
वृत्तिर्नान्येषामित्येतत्कथं ? प्रामाण्यप्रपञ्चतामश्नुति । अथाभिन्ना  
चेत्, तर्हि इन्द्रियाण्येष वृत्तिरेव वा भवति । ततो नेन्द्रियवृत्तिः  
प्रमाणतामुपलोकते । तथा च नेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्, ज्ञानेन व्यव-  
हितत्वात्, यद्येन व्यवहितं तन्न तत्र प्रमाणम्, यथा कुठारेण

१. तुलना—‘तथाप्यसौ तेजो भिन्ना, यभिन्ना वा स्यात् ? यद्यभिन्ना  
धोनादिनामैव सा, तच्च सुपुप्तादावप्यस्तीति सुप्त-प्रकृतयोरविशेषप्रसङ्गात्  
तदुभयहाराभावः स्यात् । अथ भिन्ना; किमसौ तत्र सम्बन्धः, असम्बन्धः वा ?  
यद्यसम्बन्धः; कथं धोनादेरियं वृत्तिरिति व्यपदिश्येत ? यद् यत्रासम्बन्धं न  
सत् तस्येति व्यपदिश्यते, यथा सहे विन्ध्यः, असम्बन्धः च धोनादिना वृत्तिरिति ।  
अथ सम्बन्धः; किं समवायेन, संयोगेन, निक्षेपणभावेन वा ?... ‘तस्माद् इन्द्रि-  
यवृत्तेर्विचार्यमाणायाः सत्त्वासम्भवात् कथं ‘विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्या-  
लम्बना मनोवृत्तिः’ इति सुषटं स्यात् । इन्द्रियवृत्तेर्विषयाकारपरिणतत्वानु-  
पपत्ती मनोवृत्तेस्तदालम्बनत्वानुपपत्तेः ।’—भ्यायकु० पृ० ४१ । प्रमेयकम०  
पृ० १९ । ‘तस्मादित्यं इन्द्रियवृत्तेर्विचार्यमाणायाः सत्त्वासम्भवात् कथं  
विषयाकारपरिणतेन्द्रियवृत्त्यालम्बना मनोवृत्तिः इति सुषटं स्यात् ।’  
—स्याद्वादरत्ना० पृ० ७३ ।

१. ‘प्रकृतिमहानिति’ । २. ‘प्रामाण-प्रपञ्चता’पाठः । ३. ‘अथाभिन्ना  
चेत्’ इत्ययं पाठो मूले नास्ति, परं प्रकरणवशादसावावश्यकः ।

व्यवहितोऽयस्कारादिः, ज्ञानेन व्यवहिता चेन्द्रियवृत्तिस्तस्मात्प्रार्थ-  
प्रमितौ करणम् ।

१६. अयेदमुच्यते—कथमयं परिच्छिन्नी मायास्तानस्य साधक-  
तमत्वम्, येनेन्द्रियवृत्तस्तेन व्यवहितत्वात् साधकतमत्वं नेध्यते ।  
सत्यमेतदेव, एतद्व्यवहाराभ्युपगमात् । यथाभ्युपगतमपि न बुद्ध्यते,  
तत्र कोऽन्यो हेतुरन्यत्र मदासोदात् । यदुक्तं भवताऽपि—“इन्द्रि-  
याण्यर्थमालोचयन्ति, इन्द्रियाणोचितमर्थमहङ्कारोऽभिमन्यते, अह-  
ङ्काराभिमन्यते<sup>१</sup> बुद्धिरवधारयति, बुद्धयध्यवसितमर्थं पुरुष-  
श्चेत्यते<sup>२</sup> ।” [      ] ।

१. मयं माय.—इन्द्रियाणामज्ञानरूपत्वात्तद्वृत्तेरप्यज्ञानरूपत्वेन प्रमाण-  
त्वायोपान् । ज्ञानरूपमेव हि प्रमाणं भविष्यतीति, तस्यैवाज्ञाननिवर्तकत्वात्,  
प्रदीपादिवत् । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां वृत्तिरिह तद्दृष्टादनादिकरो व्यापाटः, य-  
च्च जडरूपः । न हि तेनाज्ञाननिवृत्तिः सम्भवति यदादेरिव । तस्मादिन्द्रिय-  
वृत्तेरज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमां प्रति करत्वाभावात् प्रमाणत्वमिति ।

२. “स्वार्थमिन्द्रियाणि आलोचयन्ति मनः संकल्पयति अहङ्कारोऽभिमन्यते  
बुद्धिरध्यवसति इति ।”— ति० वि० पृ० ५८१, उद्भूतम् । “इन्द्रियाण्यर्थ-  
मालोचयन्ति, अहङ्कारोऽभिमन्यते, मनः संकल्पयति, बुद्धिरध्यवसति,  
पुरुषश्चेत्यते ।”—ति० वि० पृ० ५८१, उद्भूतम् ।

‘बुद्धयध्यवसितं यस्मादर्थं चेत्यते पुमान् ।

इतीष्टं चेतना चेह संविद् सिद्धा जगत्त्रये ॥’

—योगविन्दु प्लोः ४४४, पृ० ७५ ।

तस्मात्त्रेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम् ।

[ भट्टजयन्ताभिमतस्य कारकसाकल्यस्य प्रामाण्यनिरासः—]

५७. नापि कारकसाकल्यम्, तस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वात् ।

१. तुलना—‘अव्यभिचारिणीमग्न्यामर्षोपलब्धिं विदधती बोधाब्धोप-  
 स्तभावा सामग्री प्रमाणम् । बोधाब्धोपस्वभावा हि तस्य स्वरूपम्,  
 अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम् ।’—न्यायमं०  
 पृ० १२. कारकसाकरमापरनामिकां सामग्रीं प्रमाणयन् भट्टजयन्तो  
 न्यायमञ्जरीम् तामेव सामग्रीं प्रमाणत्वेन समर्थयन्नाह—‘यत् एष  
 साधकतमं करणं करणसाधनद्वय प्रमाणद्वयः, तत् एष सामान्याः  
 प्रमाणत्वं युक्तम् । तद्व्यतिरेकेण कारकान्तरे क्वचिदपि समर्थ-  
 संस्पर्शाश्रुपपत्तेः । अनेककारकगुणिपाने कार्यं घटमानं, अन्यतरव्य-  
 पगमे च विघटमानं कस्मै अतिशयं प्रयच्छेत् । न चातिशयः कार्य-  
 जग्मनि कस्यचिदवधार्यते सर्वेषां तत्र व्याप्तिममाणत्वात्’—‘स च  
 सामान्यान्तर्गतस्य न कस्यचिदेकस्य कारकस्य कथयितुं पार्यते ।  
 सामान्यास्तु सोऽतिशयः सुवचः ; सन्निहिता चेत् सामग्री संस्पन्नमेव  
 फलम् इति सैव अतिशयवती ।’—न्यायमं० पृ० १२-१३ । भट्टजयन्तः  
 पुनरपि तामेव प्रमाणमग्राह—‘यत् किमपेक्षं सामान्याः करणत्वम्  
 इति; ‘तदन्तर्गतकारकापेक्षम्’ इति ब्रूमः । कारकाणां धर्मः सामग्री  
 न स्वरूपहानाय तेषां कल्पते, साकल्यदशायामपि तत्स्वरूप-  
 प्रत्यभिज्ञानात्’—‘तस्मात् अन्तर्गतकारकापेक्षया तत्स्वरूप-  
 सामग्री प्रमाणम् ।’—न्यायमं० पृ० १३ । अस्य कारकसाकल्यस्य  
 प्रमेयकमलमार्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-न्यायविनिश्चयविवरण-स्याद्वादराना-  
 करप्रभृतिषु जैनग्रन्थेषु विस्तरतः समालोचना समुपलभ्यते । तया-  
 हि—‘तत्र प्रमाणस्य ‘ज्ञानम्’ इति विशेषणेन ‘अव्यभिचारादिविशेषण-

तत्स्वरूपं हि किं सकलान्येव कारकाणि, तद्धर्मो वा, तत्कार्यं वा,  
पदार्थान्तरं वा, गत्यन्तराभावात् । न तावदाद्यः, सकलानां कार-

विशिष्टाद्योत्पत्तिप्रसङ्गं कारकमाहृत्य साधकतमत्वात् प्रमाणम्  
इति प्रत्याख्यातम्; तस्याभावरूपस्य प्रमेयार्थत्वं स्वस्वरिच्छितौ  
साधकतमत्वाभावात् प्रमाणत्वाद्योपात्तं, तत्स्वरिच्छितौ साधकतमत्वा-  
ज्ञानविरोधिना<sup>१</sup> ज्ञानेन व्याप्तत्वात् । "ततो यद्विषयविपर्ययस्य  
प्रमाणत्वाभिधानम्—“तन्निर्णयं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं  
स्मृतम् ।” इति, तत्प्रत्याख्यातम्; ज्ञानस्वभावानुपचरितप्रमाणव्यय-  
देशार्हत्वात् । तथा हि-यद्यत्रागरेण व्यवहृत् न तत्र मुक्तरूपतया  
साधकतमव्ययदेशार्हम्, यथा हि चिच्छिदिक्रियायां कृटारं व्यवहृत्तुमस्कारः ।  
स्वरपरिच्छितौ विज्ञानेन व्यवहृत् च परस्परकल्पित साक्ष्यादिकम्  
इति । तस्मात् कारकमाहृत्यादिकं साधकतमव्ययदेशार्हं न भवति ।  
—प्रमेयक० पृ० ७, ८, ९ । व्यायक्त० पृ० ३३, ३४, ३५, । स्यादाह-  
रणाकर पृ० ६२, ६३, ६४ । व्यायक्ति० वि० पृ० ६०-६१ ।

: १. 'किं च, स्वकृतेन प्रसिद्धस्य प्रमाणत्वादिभ्यवस्था स्यान्नान्यथा; अति-  
प्रज्ञानं । न च साधकस्य स्वकृतेन प्रसिद्धम् । तत्स्वरूपं हि सकलान्येव कार-  
काणि, तद्धर्मो वा स्यात्, तत्कार्यं वा, पदार्थान्तरं वा गत्यन्तराभावात् ।'  
प्रमेयक० पृ० ९ । २. 'न तावत्सकलान्येव तानि साक्ष्यस्वरूपम्; कर्तृकर्म-  
भावे तेषां करणत्वानुपपत्तेः । तद्भावे वा—अग्नौ कर्तृकर्मरूपता, तेषामेव  
वा ? न तावदग्नौ, सकलकरकव्यतिरेकेणान्येषामभावात् । भावे वा न  
कारकमाहृत्यम्, । नापि तेषामेव कर्तृकर्मरूपता, करणत्वाभ्युपगमात् ।  
न चेतेषां कर्तृकर्मरूपतामपि करणत्वं परस्परविरोधात् । कर्तृता हि  
ज्ञान-चिद्विषय-प्रयत्नाधारता स्वातन्त्र्यं वा, निर्वर्त्यादिधर्मयोगित्वं कर्मत्वम्,  
करणत्वं तु प्रधानक्रियाज्ञाधारत्वम्, इत्येतेषां कथमेकत्र सम्भवः । तत्र  
साक्ष्यस्वरूपतायाः साक्ष्यत्वम् ।'—प्रमेयक० पृ० ९ । 'किं च, समानं एव

काणामेकैकदा संभवाऽभावात् कथं साकल्यं नाम; तेषां परस्पर-  
विरोधात् । साकल्यं हि नाम प्रमाणं, तेन च करणेन भवितव्यम् ।  
यदा तस्य कर्तृ-कर्मरूपताऽङ्गीक्रियते तदा न करणत्वम् । करणत्वे  
वा न कर्तृ-कर्मरूपता; कर्तृ-कर्म-करणानां सहायस्थानाभावात्,  
शोतोष्णवत् ।

§ ८. किं च, सकलान्येव कारकाणि तेषां भावः साकल्यं  
तद्विरुद्धं न संबोध्यतीति । सन्न सकलान्येव कारकाणि साकल्यम् ।

§ ९. नापि तद्धर्मः, स हि संयोगोऽन्यो वा । न तावत्संयोगः,

सामग्री, समप्राणां धर्मो वा । तत्राद्यप्ये सर्वेषां फलं प्रति बन्धव्यतिरेका-  
नुविधानात् 'कस्य करणता' इति न विषयः । कारणं हि साधकतमम्,  
तमार्यद्वय प्रकर्षः कार्यं प्रति अव्यवधानेन व्यापारः, स चेत् सर्वेषां तुल्यस्तदा  
कथं कस्मिन्निदेश करणत्वं सिद्धयेत् ।—न्यायकु० पृ० ३७ ।

१. 'किं च, समप्राणां भावः सामग्री, भावशब्देन च तेषां सत्ता, स्वरूप-  
मात्रम्, समुदायः, सम्बन्धः, ज्ञानजनकत्वं वाऽभिधीयते, प्रकारान्तराभावात् ?  
तत्राद्यविकल्पद्वये अतिप्रसंगः, व्यस्तावस्थायामपि तत्सत्तायाः स्वरूपस्य च  
सद्भावतः प्रामाण्यप्रसंगात् । समुदायोऽपि एकाभिप्रायतालक्षणः, एकदेशे  
मिलनस्वभावी वा ? तत्राद्यप्योऽनुपपन्नः । विषयेन्द्रियादेः तिरभिप्रायत्वात् ।  
द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; चन्द्रार्कादिविषयस्य इन्द्रियादेश्च एकदेशे मिलनाऽ-  
सम्भवात् । सम्बन्धपक्षोऽपि अनेनैव प्रमाख्यातः; चन्द्रादेश्चक्षुरादिना  
सम्बन्धाभावात्, तस्मात्प्राप्यकारित्वात् । अथ ज्ञानजनकत्वं भाव-  
शब्देनाभिधीयते; तर्हि प्रमातृ-प्रमेययोरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः, तज्जनकत्वा-  
विशेषात्, तथा च प्रतीतिसिद्धतद्वचनस्याविलोपः स्यात् ।—न्यायकु०  
पृ० ३७ । २. 'नापि तद्धर्मः—स हि संयोगः, अन्यो वा ? संयोगश्चेत् न;  
अस्मानन्तरं विस्तरतो निषेधात् । अन्यश्चेत्, नास्य साकल्यरूपता,  
अतिप्रसङ्गात्, व्यस्तार्थानामपि तत्सम्भवात् ।—प्रमेयक० पृ० ९ ।

तेषां तदसंभवात्, परस्परविरुद्धानि कारकावस्थानाभावाच्छ्रुती-  
प्यादीनामिव, कथं नाम संगोगः प्रमाणतामश्नति । नाप्यन्यः,  
तस्य साकल्यरूपत्वेऽतिप्रसंगान् । व्यस्तार्थानामपि तत्सम्भवात् ।  
‘हि चासौ’ कारकस्योऽन्यतिरिक्तो व्यतिरिक्तो वा । यद्यन्यति-  
रिक्तस्तदा धर्ममात्रम्, कारकमात्रं वा स्यात् । व्यतिरिक्तश्चेन्,  
सम्बन्धासिद्धिः । व्यतिरिक्ते सति यथा कारकैः सह संबध्यते तथा  
पदार्थान्तरैः सह संबध्यः कथं न स्यात् । तस्मात्संबन्धासम्भवात्  
कथं नाम कारकागो धर्मः प्रमाणम् । तत्र न धर्मोऽपि  
साकल्यम् ।

॥ १०. नापि तत्कार्यम्, तत्कार्यवत्त्वासंभवान् । तदसंभवश्च  
तेषां नित्यत्वान् । कथमेवमिति चेत्, नित्यत्वे तत्कार्यकरणैकस्य-  
भावत्वे च सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसंगान् । अतएवभावत्वे च न  
कचित्कदाचित्कथं चिदपि तेभ्यः साकल्यलक्षणकार्योत्पत्तिः स्यात् ।  
अयेदमुच्यते—नित्यत्वे तत्कार्यकरणैकवत्त्वाभावत्वे च सहकारिसं-  
पेक्षतया न तेभ्यः सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः इत्यभिमन्यमानो न  
निर्मलमना मनीषिमिरनुमन्यते, सहकारिणां नित्यं प्रत्यनुपकारि-  
त्वान् । सहकारित्वे ‘ज्ञाश्रुतेभ्यस्तेभिर्भः क्रियते, अभिभो वा ।

१. ‘हि चासौ कारकस्योऽन्यतिरिक्तो व्यतिरिक्तो वा ? यद्यन्यतिरिक्तः  
तदा धर्ममात्रं कारकमात्रं वा स्यात् । व्यतिरिक्तत्वेत्संबन्धासिद्धिः ।’  
—प्रमेयक० पृ० ९ । २. ‘नापि तत्कार्यं साकल्यम्, नित्यानां तद्वर्तन-  
स्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसंगः, एकप्रमाणोत्पत्तिप्रसंगे सहस-  
तदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिरन स्यात् ।’—प्रमेयक० पृ० १० । ३. ‘सहकारिसं-  
पेक्षाणां जनकत्वादेव साकल्यत्वमावधेदः कार्यं न विरुद्धम् इत्यपि वार्तम्;  
नित्यत्वानुकार्यतया सहकार्यपेक्षाया अप्युपपत्तिः ।’—प्रमेयक० पृ० ११ ।

भिन्नस्य करणे तेषां न किञ्चिदपि कृतं स्यात् । घटस्य करणे पटस्य किमायातम् । नाप्यभिन्नः, अभेदे तान्येयं कृतानि भवेयुः, कथं नाम तेषां नित्यता स्यात् । ततश्च तत्कार्यमपि साकल्यं न प्रमाणतामियात् ।

§ ११. नापि पदार्थान्तरम्, सर्वेषामपि पदार्थान्तराणां साकल्यप्रसंगात् । तथा च सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वार्थोपलब्धि-प्रसंगेन सर्वदा पदार्थान्तरसाकल्यं स्यात् । कारकाणां हि साकल्यं कारकसाकल्यं, तत्र पदार्थान्तरम् सर्वेषामपि पदार्थान्तर[राणां]-साकल्ये कथं नाम कारकसाकल्यं भवितुमर्हति । पदार्थान्तरसाकल्यमित्येवं स्यात्, कारकसाकल्यमित्येतदुन्मत्तमापितमेव स्यात् ।

§ १२. किं च, कारकेभ्यः पदार्थान्तरं साकल्यम्, तत्किं ज्ञान-मन्यद्वा । आद्ये, ज्ञानमेव प्रमाणं नामान्तरेणोक्तं स्यात् । अन्यच्चेत्, तत्राग्नेवातिप्रसंगेन निरस्तं बोद्धव्यम् । तत्र कारकसाकल्यं प्रमाणम्, तस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वात्, सिद्धौ वा, ज्ञानेन व्यवहितत्वाच्च न प्रमाणमिति । †

१. 'नापि पदार्थान्तरम्, सर्वस्य पदार्थान्तरस्य साकल्यरूपताप्रसङ्गात्, तथा च तत्सद्भावे सर्वत्र सर्वदा सर्वस्यार्थोपलब्धिरिति सर्वः सर्वदर्शी स्यात् । ततः कारकसाकल्यस्य स्वरूपेणासिद्धेः, सिद्धौ वा ज्ञानेन व्यवधानात् प्रामाण्यम् ।'—प्रमेयक० पृ० १३ ।

† अस्येदं तात्पर्यम्—कारकसाकल्यस्याबोधस्वभावस्याज्ञानरूपत्वेन स्वपरज्ञानकरणे साधकतमत्वाभावात् न प्रमाणत्वम् । अतिशयेन साधकं साधकतमम्, साधकतमं च करणम् । करणं सत्त्वसाधारणं कारणमुच्यते । तथा च सकलानां कारकाणां साधारणासाधारणस्वभावानां साकल्यस्य—परिसमाप्त्या सर्वत्र वर्तमानस्य सामस्त्यस्य—कथं साधकतमत्वमिति विचारणीयम् । साधकतमत्वाभावे च न तस्य प्रमाणत्वम्, स्वपरपरिच्छिन्नौ साधकतमस्यैव प्रमाणत्वघटनात् इति ।

[ यौगाभिमतस्य संनिकर्षस्य प्रामाण्यनिरासः— ]

§ १३. नापि संनिकर्षः प्रमाणम्, तस्याप्यन्यभिचारादिविशे-

१. तुलना—‘तत्र हि संनिकर्ष एवार्थोपलब्धौ साधकतमत्वात्प्रमाणम् । साधकतमत्वं हि प्रमाणात्वेन ध्यायं न पुनर्ज्ञानित्वमज्ञानत्वं, संशयादिवन्, प्रमेयार्थवच्च । तच्चार्योपलब्धौ संनिकर्षस्यास्त्येव । न. ह्यसंनिकृष्टेऽप्ये ज्ञानमुत्पत्तुमर्हति, सर्वस्य सर्वत्रार्थे तुल्यतिप्रगंगात् ।’—न्यायकु० पृ० २८ । ‘उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्’ मनुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणम् । ‘अकरणा प्रमाणोत्पत्तिरिति चेत्,’ ‘न, इन्द्रियार्थसंनिकर्षस्य करणभावात्’ साधकतमत्वाद्वा न प्रसंगः ।’—न्यायबा० पृ० ५-६ । ‘ननु संनिकर्षावगमे किं प्रमाणम् ? व्यवहितानुपलब्धिरिति ब्रूमः । यदि हि असंनिकृष्टमपि चक्षुरादीन्द्रियमर्थं गृह्णीयाद् व्यवहितो ततोऽप्युपलब्धेत ।’ ‘इन्द्रियाणां कारकत्वेन प्राप्यकारित्वात् । संसृष्टं च कारकं फलाय कल्पने इति कल्पनीयः संसर्गः ।’ ‘कारकं च अप्राप्यकारि च इति चित्रम् ।’—न्यायमं० पृ० ७३ तथा ४७९ । अत्र ज्ञानानुत्तरपक्षः—‘तस्यार्थप्रमिती साधकतमत्वाच्चंभवात् । यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र साधकतमम् । ‘भावाभाव-योस्तद्वत्ता साधकतमत्वम् ।’ इत्यभिधानात् । न चेत् संनिकर्षे संभवति तस्मिन् सत्यपि स्वचित्प्रमित्यनुपपत्तेः । आकाशादिना हि घटवत् चक्षुषः संयोगो विद्यते; न चासौ तत्र प्रमितिमुत्पादयति ।’—न्यायकु० पृ० २८ । प्रमेयक० पृ० १४ । ‘संनिकर्षस्य च यौगाम्युपगतस्याभेतनत्वात्कुतः प्रमितिकरणत्वम् ? कुतस्तरां प्रमाणत्वम् ? कुतस्तमां प्रत्यक्षत्वम् ? किं च, क्वप्रमितेरसंनिकृष्टमेव चक्षुर्जनकम्, अप्राप्यकारित्वात्तस्य । ततः संनिकर्षाभावेऽपि साक्षात्कारिप्रमोत्पत्तेर्न संनिकर्षरूपत्वं प्रत्यक्षस्य ।’—न्या० दी० पृ० २६ ।



पणविशिष्टार्थप्रमितावसाधकतमत्वात् । अर्थप्रमितावसाधक-  
तमत्वं च स्वप्रमितावसाधकतमत्वेन सिद्धम् । तथा हि—न  
संनिकर्षोऽर्थप्रमितौ साधकतमः, स्वप्रमितावसाधकतमत्वात्,  
घटवत् । न ह्यचेतनोऽर्थः स्वप्रमितौ करणम्, तद्वत् । तस्मात्प्र  
संनिकर्षः प्रमाणमन्यत्रोपचारात्, प्रदीपादियत् । यथा प्रदीपा-  
दीनां<sup>१</sup> करणत्वमुपचारात् तथा संनिकर्षस्यापि ।

§ १४. किं च, अठ्याप्त्यतिव्याप्तिदोषसंभवेन 'संनिकर्षः  
प्रमाणम्' इति लक्षणं नाच्छुणमुपलभ्यते परीक्षादृष्टैः । तथा हि—  
यथा चक्षुषा संयुक्ते घटे संयोगाद् घटज्ञानम्, संयुक्तसमवायाद्  
रूपज्ञानम्, संयुक्तसमवेतसमवायाद् रूपत्वज्ञानम् [इति], संयोग-  
संयुक्तसमवाय-संयुक्तसमवेतसमवाय-संबन्धप्रयवराद् 'घटरूप-  
रूपत्व-ज्ञानमुररीक्रियते भयता तथा घट-रस-रसत्व-ज्ञानमप्युररी-  
क्रियताम्, संबन्धप्रयस्य तत्रापि सत्त्वात्, इत्यव्याप्तिः ।  
संनिकर्षस्याज्ञानरूपस्य प्रामाण्ये घटादिप्रमेयार्थस्यापि प्रामाण्यप्रसंग  
इत्यतिव्याप्तिः । तथा चाठ्याप्त्यतिव्याप्तिदोषाभ्यां संनिकर्षस्य<sup>२</sup>  
प्रमाणत्वासंभवेनासंभवदोषदुष्टत्वेन च तस्य प्रामाण्यं मन्यमानो  
न निर्मलमना मनीषिभिरनुमन्यते । ततः कथं संनिकर्षः प्रमाणं  
नाम । अथ साक्षादर्थप्रमितौ साधकतमस्य ज्ञानस्योत्पादकत्वेन  
संनिकर्षः प्रमाणम्, तदुपचारात्प्रामाण्यमित्यायातं तस्य ।  
मुख्यतस्तु ज्ञानस्यैव प्रामाण्यम्, तच्च भयतामनभ्युपगमादेव न  
प्रमाणतां याति । परमतप्रसंगश्च ।

§ १५. किं च, ज्ञानस्य प्रामाण्ये संनिकर्षस्य निष्फळत्वाद्-  
प्रामाण्यम्, प्रमाणेन फलवता भवितव्यम्, निष्फळस्याप्रमाणत्वात् ।  
ततो न संनिकर्षः प्रमाणम्, ज्ञानेन व्यवहितत्वात् ।

१. 'प्रदीपानां' पाठः । २. 'घटरूपत्वज्ञान' पाठः । ३. 'स्याप्रमाणात्वा'  
पाठः ।

[पराभिमतं शाब्दव्यापारादिकं प्रमाणस्वरूपं समालोच्याधुना स्वमतेन 'स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानस्यैव प्रमाणत्वम्' इति निरूपयति—]

५ १६. साक्षादर्थप्रमिनी ज्ञानमेव प्रमाणम्, तस्यैव साधक-  
त्वत्वात् । तदपि स्वार्थव्यवसायात्मकमेव । तथा च प्रयोगः—  
प्रमाणं स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानमेव, प्रमाणादऽन्य-  
थाऽनुपपत्तेः । यत्तु न सम्यग्ज्ञानं स्वार्थव्यवसायात्मकं तन्न  
प्रमाणम्, यथा संशयादिषट्पादिष्वपि, प्रमाणं [च] विवादापन्नम्,  
तस्मात्स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानमेव [ प्रमाणं ] भवितुमर्हति ।

१. अत्र ज्ञानस्यैव प्रामाण्यमित्यभ्युपगच्छता जैवानां क्रमविकसिणानि  
प्रमाणलक्षणानि निम्नप्रकारेण दृष्टव्यानि— तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपरत्व-  
भावनम् ।—सात्त्विकी० का० १०१ । 'स्वरराजभासक यथा प्रमाणं भुवि  
बुद्धिलक्षणम् ।'—स्वयम्भू० का० ६३ । 'प्रमिनीति प्रमीयनेऽनेन प्रमिति-  
मार्गं वा प्रमाणम्'—सर्वार्थसि० पृ० ५८ । तत्त्वार्थज्ञा० पृ० १५ ॥  
'व्यवसायात्मकं ज्ञानमार्थमाहूतं मतम् ।'—सटीक० वा० ६० । 'सिद्धं  
यत्र परारेण मिथो स्वररूपयोः । तत्प्रमाणं ततो भाग्यद्विपरपमचेतनम् ।'  
वि० वि० १-२३ । 'प्रमाणमद्विर्वादिज्ञानमनधिगतायां पिगमलक्षणत्वात् ।'  
अष्टस० अष्टस० पृ० १७५ । 'तत्स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं मानम्'—  
त० दली० वा० पृ० १७४ । 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ।'—प्रमाणप० पृ०  
५१ । 'किं पुनः सम्यग्ज्ञानं ? अभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं  
सम्यग्ज्ञानत्वात् ।'—प्रमाणप० पृ० ५३ । 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं  
प्रमाणम् ।'—पटी० मु० १-१ । 'नेष्टु ह वत्पुनर्हत्वं अविच्छेदं सम्मदव-  
धं ज्ञानं । भवितुं तु तं यमात्रं पञ्चव्यापरोक्तमेवेति ॥'—नयचक्रगं०  
पृ० ६५ । आद्यापपद्यति पृ० १४५ । 'सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं  
विदुः ।'—सत्त्वार्थसार १-१७ । पञ्चाध्या० दली० ६६६ । 'प्रमाणं

§ १७. अथ 'प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वाद्धेतोः प्रमाणत्वस्य न प्रकृतसाध्यं प्रति गमकत्वम्, इति मतिः, सापि स्वविकल्पकल्पना-  
शिल्पिकल्पितैव, प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वस्य दोषाभासत्वात् । का  
पुनः प्रतिज्ञा, तदेकदेशो वा । धर्मिधर्मसमुदायः प्रतिज्ञा, तदेक-  
देशो धर्मो धर्मी वा स्यात् । न तावद्धर्मः, तस्य सर्वात्मनैवासि-  
द्धत्वात्कथमेकदेशासिद्धत्वम् । धर्मी चेत्, तदपि न साधीयः,  
तस्य पक्षप्रयोगकालवद्धेतुप्रयोगकालेऽपि सिद्धत्वात्कथमसिद्धत्वं  
नाम । इति न प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वम् ।

§ १८. अथार्थज्ञानं प्रमाणं चेत्, तस्य किं फलम् । प्रमाणेन  
फलवत्ता भवितव्यम्, इत्यनालोचितवचनं नैयायिकानाम् ।  
तत्फलं हि साक्षादज्ञाननिवृत्तिः । परम्परया तु हानोपादानोपेक्षा-

स्वपरावभासि ज्ञानं बाधविराजितम् ।'—न्यायावतार का० १ । 'प्रमीयन्तोऽ-  
र्थास्तिः इति प्रमाणानि ।'—तत्त्वा० भा० १-१२ । 'प्रमाणं स्वार्थ-  
निर्णोतिस्वभावं ज्ञानम् ।'—सम्मति० टी० पृ० ५१८ । 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं  
प्रमाणम् ।'—प्रमास० १-२ । 'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।'—प्रमाणमी०  
१-१-२ । स्या० भं० पृ० २२८ । 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ।'—न्या०  
दी० पृ० ९ ।

१. तुलना—'प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वात्पदार्थानां ह्यलिङ्गता ।'—मी० इलो०  
इतो० २३२ । 'प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुरिति चेत्, का पुनः प्रतिज्ञा तदेक-  
देशो वा । धर्मिधर्मसमुदायः प्रतिज्ञा । तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा ।'—  
प्रमेयरत्न० पृ० ४० । २. तुलना—'उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।  
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥'—प्राप्तमी० का० १०२ ।  
'सिद्धप्रयोजनत्वात्केवलानां सर्वत्रोपेक्षा'—मत्यादेः साक्षात्फलं स्वार्थव्यामोह-  
विच्छेदः—'परम्परया हानोपादानसंवित्तिः फलमुपेक्षा वा मत्यादेः ।'—प्रवृत्त०

स्वरूपं<sup>१</sup> वाऽऽविद्वद्भ्रान्ता-प्रमिद्वं<sup>२</sup> कथं हन्त हन्तुं शक्यते ।  
अन्यदुच्यते—यद्यर्थज्ञानं सप्रार्थजन्यमभ्युपगम्यते किन्तु त्वसाम-  
प्राप्त उपपद्य अर्थप्राह्वत्वेनार्थज्ञानमन्यभिधीयते । तथा च सति  
ज्ञानं प्रमाणम्, अर्थपरिनिर्द्वास्तिन्मु फलं [ तन् ] कथं निष्फलं नाम ।

५ १६. अर्थेदमुच्यते—यद्यर्थज्ञानमर्थजन्यं न भवति तदा कथं  
प्रतिनियतार्थप्रकाराकारत्वम्, तदपि न योग्यद्विष्टम्, सम्यं योग्यता-  
वगादेव तथासिद्धस्यान् । तथा चोक्तम्—“स्वावरणस्योपशम-  
लक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति” [ परीक्षा०  
२-६ ] । ततः सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणत्वस्य सम्येवोपपत्तेः ।

अहम० पु० २८३ । ‘प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिं स्वार्थनिर्दिष्टवः ।’—  
विद्विदि० १-३ । ‘अज्ञाननिवृत्तिः हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।’—परीक्षापु०  
५-१ । ‘यदा मन्त्रिपर्यन्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानं तदा हानोपादानो-  
पेक्षाबुद्धयः फलम् ।’—धारया० भा० पु० १७ । ‘प्रमाणत्वात् सामानास्य-  
ज्ञानं फलमित्यने । तस्य प्रमाणत्वात् तु फलं हानादिबुद्धयः ॥’—ग्या० घं०  
पु० ६२ । ‘विषयापिनिर्दिष्टात्र प्रमाणकृतमित्यने । स्ववृत्तिर्वा प्रमाणं  
तु फलत्वं योग्यताऽपि वा ॥’—तत्त्वमं० इत्यो० १३४४ ।

॥ एतादृशप्रयोगोऽप्यत्रापि दृश्यते । यथा—

आविद्वद्भ्रान्ता-मिद्वमिदानीमपि दृश्यते ।

एतत्प्रापस्तदन्यत्तु मुबुद्धानाम-भाषितम् ॥

—योगदृष्टिमम्०, श्लोक ५५ ।

१. तुलना—‘ननु विज्ञानमर्थजनितमर्थकारं चार्थस्य ग्राहकम् । तदु-  
त्पत्तिमन्तरेण विषयं प्रति नियमायोगात् । तदुत्पत्तेरालोकादावविनिष्ट-

त्वात्, ताद्रूप्यसहिताया एव तस्यास्तं प्रति नियमहेतुत्वात् ।—प्रमेयर०  
 २-३; पृ० ४७ । तत्र युक्तम्—‘अतश्चान्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदोषवत् ।’—  
 परोक्षामु० २-८ । ‘ननु यद्यर्थद्वयातस्यार्थरूपाननुकारिणो ज्ञानस्यार्थसा-  
 धात्कारित्वं तदा नियतदिग्देशकालवतिपदार्थप्रकाशप्रतिनियमे हेतोरभा-  
 वात्सर्वं विज्ञानमप्रतिनियतविषयं स्यात् ।’ अत्र समापानमाहुः—‘रघावरणो-  
 स्यादि । अस्यायमर्थः—‘स्वानि च सान्यावरणानि च स्वावरणानि तेषां  
 क्षय उदयाभावः । तेषामेव सदवस्था उपशमः तावंच लक्षणं यस्या योष्य-  
 तायास्तस्या हेतुभूतया प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति प्रत्यक्षमिति शेषः । हि  
 यस्मादर्थः । यस्मादेवं ततो नोपपन्नोप इत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—‘कल्प-  
 यित्वाऽपि ताद्रूप्यं तदुत्पत्तिं तदध्यवसायं च योष्यताञ्चस्याऽभ्युपगन्तव्या ।  
 ताद्रूप्यस्य समानार्थस्तदुत्पत्तेरिन्द्रियादिभिस्तद्वयस्यापि समानार्थ-समनन्तर-  
 प्रत्ययैस्तत्प्रत्ययस्यापि सुबलं दाते पीताकारज्ञानेन व्यभिचारात् योष्यता-  
 श्रयणमेव श्रेय इति ।’—प्रमेयरत्नमा० २-६ । पृ० ४९, ५० मरुतकु-  
 देवा अपि प्राहुः—‘मलविद्वमणिव्यक्तियथाऽनेकप्रकारतः । कर्मविद्यात्म-  
 यिज्ञप्तिस्त्रयाऽनेकप्रकारतः ॥५७॥ यथास्वं कर्मशयोपशमापेक्षिणी करण-  
 मनसी निमित्तं विज्ञानस्य, न बहिरर्थादयः । “नाननुवृत्तान्वयव्यतिरेकं  
 कारणं नाकारणं विषयः” इति बालिचचीतम्, तामसखगकुलानां तमसि  
 सति रूपदर्शनम्, आयरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके यत्पि संश-  
 यादिज्ञानसंभवात् । काचाचुपहृतेन्द्रियाणां संख्यादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः ।  
 मुमुर्षुणा यथार्थं भवमर्थं सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसङ्ख्यात् नार्थादयः कारणं  
 ज्ञानस्य इति स्थितम् ।’ अन्यच्च—‘न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्वयवसितिः  
 सह । प्रत्येकं या मज्जन्तोह प्रामाण्यं प्रति हेतुत्वात् ॥५८॥ नार्थः कारणं  
 विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः, अतीततमवत् । न ज्ञानं तत्कार्यम्, तद-  
 भाव एव भावात्, तद्भावे चाभावात्, भविष्यत्तमवत् । नार्थसारूप्यभूत  
 विज्ञानम्, अमूर्तत्वात् । मूर्ता एव हि दर्पणादयो मूर्तमुखादिप्रतिबिम्ब-

तदपि स्वाध्यायसायात्मकविशेषमविशिष्टमेव, न त्वं ज्ञानमात्रं  
द्विचिद्व्ययसायात्मकं वा, मिथ्याज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसंगान् ।

§ २०. अथ स्वसंवेदनेन्द्रिय-मनो-योगिन्द्रियेचतुर्विधस्यापि  
समस्तस्याव्ययसायान्मफत्वेऽप्यविसंधादेन प्रामाण्योपपत्तेः कथं  
व्यवसायात्मकमेव सर्वं ज्ञानं प्रमाणम्, अनुमानस्यैव व्यवसाया-  
त्मकत्वेनाभ्युपगमात्, इति मतम्, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्,

धारिणो दृष्टाः, नामूर्तं मूर्तप्रतिबिम्बमृन्, अमूर्तं च ज्ञानम्, मूर्तिप्रमाभा-  
वत् । न हि ज्ञाने अर्थास्मिन् तदारमको वा, येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभा-  
सेन, सादृश्यम् । ततः तदप्यवसायो न स्यात् । कथमेतदविद्यमानं वितर्कं ज्ञान-  
प्रामाण्यं प्रति उपकारकं स्यात् लक्षणत्वेन ।' मनु ज्ञानस्य तदुत्पत्तिप्रितपा-  
नस्यै कथमर्थसाहकत्वमनिप्रमंणादिरवत्रापि समाधानमाहुः—'स्वहेतुजनि-  
तोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा । तथा ज्ञानं स्वहेतूयं परिच्छेदात्मकं स्वतः  
॥५६॥ अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मस्यभ्रमासादयतोरेव परिच्छेदपरिच्छेद-  
भावः मान्म्यारमणोः कर्तृकर्मस्वभाववत् । ततः तदुत्पत्तिमन्तरेणापि पाप-  
साहकभावमिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसंगान् ।'—  
साविबुद्धि-समीपद्वय-प्रवचनपरि० का० ५७, ५८, ५९ । 'नार्थलोको  
कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोक्तम्,' 'अन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च वैशेषिक-  
ज्ञानवप्रकर्तपरज्ञानवच्च ।'—बरोशासु० २-६.७ ।

१. तदेतच्चतुर्विधं प्रत्यक्षं बोद्धविदुषा धर्मकीर्तिना ग्यादविन्दावितर्कं  
प्रतिपादितम्—'कल्पनापोद्गमप्रान्नं प्रत्यक्षम्' । 'तच्चतुर्विधम् ।' 'इन्द्रियज्ञा-  
नम् ।' 'स्वविषयानन्तरविषयसाहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन  
जनितं तन्मतोविज्ञानम् ।' 'सर्वचित्तचित्तानामात्मगन्वेदनम् ।' 'मूतार्थ-  
प्रामाण्यप्रतिपादनं ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञेयं ज्ञेयं ज्ञेयं ।'—सा० वि० प० १२. १३. १४ ।

प्रत्यक्षस्याव्यवसायात्मकत्वे<sup>१</sup>ऽनिसंवादित्वासंभवात् । अधि-  
संधादौ ह्यर्थतथाभावप्रकाशकत्वेनैव व्यापः । तच्च व्यवसायात्मकत्वे  
सत्येय भवति । तदभावेऽपि चेदर्थतथाभावप्रकाशकत्वलक्षणं  
प्रामाण्यं प्रमाणस्यापनीपद्यते तदा संशयादौनामपि प्रामाण्यं  
सिद्धिसौधशिखरं समारुह्यते । [ ततो ] न किंचिदेतत् । प्रत्यक्षमनु-  
मानं वा व्यवसायात्मकं सत् प्रमाणं भवितुमर्हति । अत्र प्रयोगः—  
ज्ञानं प्रमाणं स्वार्थव्यवसायात्मकमेव, समारोपविरुद्धत्वात्,  
अनुमानवत्, यत्तु न स्वार्थव्यवसायात्मकं तन्न समारोपविरुद्धम्,  
यथा संशयादिः, समारोपविरुद्धं चेदम्, तस्मात्स्वार्थव्यवसाया-  
त्मकमेव ।

[ प्रमाणलक्षणत्वेन लक्षितस्य ज्ञानस्य स्वव्यवसायात्म-  
कत्वसाधनम्— ]

§२१. अत्रान्ये योग-मीमांसक-सांख्या वदन्ति । अस्तु नाम  
व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्, परं तत् अर्थव्यवसायात्मकमेव  
न च स्वव्यवसायात्मकम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि  
सुशिक्षितोऽपि नटयटुः स्वकायस्कन्धमारोहति । न हि सुतीक्ष्णोऽ-  
पि खड्गधारः स्वात्मानं छिनत्ति । तथा हि—ज्ञानं न स्वव्यवसायात्म-  
कम्, श<sup>२</sup>कर्मत्वेनाप्रतीयमानात्, यद्व्यवसीयते तत्कर्मत्वेन प्रतीयते,  
यथा घटादिः, कर्मत्वेनाप्रतीयमानं च ज्ञानम्, तस्मान्न स्वव्यव-  
सायात्मकम् । न चायमसिद्धो हेतुः । प्रमाणं कर्मत्वेनाप्रतीयमानम्,  
करणत्वात् । न हि यदेव करणं तदेव कर्म भवितुमर्हति । तयोः  
कर्मकरणयोः परस्परं विरोधात् । कर्म-करणकारकयोरेकत्राभिन्ने  
वस्तुन्यसंभवात् । घटादिपरिच्छेद्यं हि कर्म, परिच्छेदकस्तु-

१. द वा 'त्मकमेव सर्वज्ञात्वे' पाठः । २. 'जाकर्मत्वेनाप्र०' पाठः ।

कृतां, येन परिच्छिन्नशने सत्कर्मणमिति कर्तृ-कर्म-कृत्यानां परस्पर-  
भेदः, भिन्नप्रत्ययविषयत्वान्, भिन्नार्थक्रियाकारित्वान्, भिन्नकारण-  
प्रत्ययत्वात्, घटपटादिवन् । येषां भिन्नप्रत्ययविषयत्वं ते भिन्ना एव,  
यथा घट-पटादयः, तथा चात्मा, तस्मात्तथेति । तत्र न स्वव्यव-  
सायात्मकम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधान् ।

§२२. तत्तमोषिलसिन्धु, तथा हि—सम्यग्ज्ञानं स्वव्यवसाया-  
त्मकम्, अर्थाव्यवसायात्मकत्वात्, यत् न स्वव्यवसायात्मकं  
तत्तमोष्यवसायान्मकम् यथा घट-पटादि, अर्थाव्यवसायात्मकं च  
ज्ञानम्, तस्मात्स्वव्यवसायात्मकमिति ।

[ स्वात्मनि क्रियाविरोधं परिहरति— ]

§२३. यद्यत्र स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधक इत्युक्तम्, तदपि न  
पटिन्नम्, स्वात्मनि क्रिया विरुद्धयते—किं धात्वर्थलक्षणा, उत्पत्ति-  
लक्षणा, क्षान्ति-लक्षणा वा<sup>१</sup> । न तावद्भात्वर्थलक्षणा तत्र विरुद्धयते,  
तत्र नम्या<sup>२</sup> भविरोधान् । क्रियाया (धात्वर्थलक्षणायाः) द्विष्टत्वान् ।  
पक्षा धात्वर्थलक्षणा क्रिया कर्तृत्वा । अन्या च कर्मत्वा ।

१. परोक्षानुवृत्ताऽपि मुक्ति-दुष्टान्तपुरस्सरं ज्ञानस्य स्वव्यवसाया-  
त्मकत्वं प्रमादितम् । तदित्यम्—‘स्वोन्मुखनया प्रतिमासनं स्वरय व्यवसायः’,  
अर्थस्यैव तदुन्मुखनया, ‘घटमहमात्मना वेत्ति’, ‘कर्मवत्कर्तृकरणविषा-  
प्रतीतेः’, ‘गद्यानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुमदनमर्थवन्’, ‘को वा तत्प्रतिमासिन-  
मर्थमप्यशमिच्छेत्तदेव तथा नेच्छेत्’, ‘प्रदीपवत्’—परोक्षानु० १-६, ७,  
८, ९, १०, ११, १२ ।

१. व प्रती ‘वा’ पाठो नास्ति । २. ‘तस्या विरोधात्’ पाठः ।





तदुक्तम्—

कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च भिदेः क्रिया ।

<sup>१</sup>समाप्तिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च गमेः क्रिया ॥१॥ [ ]

§२४. या चोत्पत्तिवृत्तौ स्वात्मनि विरुद्धयते सा विरुद्धप-  
ताम्, तद्विरोधस्याङ्गीकरणात्<sup>१</sup> । यदुक्तम्—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्धयते ।

कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वभावात्प्रजायते ॥

[ आश्रमी० का० २४ ]

§२५. अथ ज्ञानिलक्षणा क्रिया, न सा<sup>२</sup> विरुद्धयते, कथंचित्क-  
र्तुरभिन्नस्य करणस्य विद्यमानत्वात् । तथा हि—आत्मा कर्ता  
स्वसंबन्धो भवता [ स्वीकृतः ], तत्र कथं कर्मत्वं न विरुद्धयते ?  
अथाऽऽत्मा कर्तृत्वेन प्रतीयमानो न विरुद्धयते, स्वप्रकाशरूप-  
त्वात्, प्रदीपयन्, तर्हि तद्वर्मो ज्ञानमपि करणत्वेन प्रतीयमानं  
कथं विरोधमर्हति, प्रदीपभासुराकारयत् । तस्मान्न कर्तृ-करण-  
क्रियाणां कथंचित्परस्परभिन्नानां स्वप्रकाशरूपाणां स्वार्थप्रकाशक-  
त्वमाविद्धद्वङ्गनाप्रसिद्धतया प्रतीयमानं विरोधतामाचनोक्तव्यते ।  
तस्मात् 'स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रमाणस्य लक्षणं  
सिद्धम् ।

इति प्रमाणतत्त्व-परीक्षा ।

१. न हि कथं स्वभावेन स्वस्योत्पत्तिरभ्युपगम्यते इति भावः ।

१. 'समाप्तिभावः' पाठः । २. 'वि या' पाठः । ३. 'कर्म' पाठः

## [ २. प्रमेयतत्त्व-परीक्षा ]

[ प्रमाणतत्त्वं शरीरस्य सांप्रतं प्रमेयतत्त्वपरीक्षामुपक्रमते— ]

§२६. ननु प्रमाणं भवतु ज्ञानरूपमज्ञानरूपं वा, परं तत्रमेया-  
धर्मज्ञाक्रियते, प्रमायते येन प्रमेयार्थमन्यद्विज्ञानमिति निर्वचनान् ।  
स च प्रमेयार्थः सामान्यं विशेषो वा, उभयमनुभवं वा, एकमनेकं  
वा, अनेकमप्येकधर्मात्मकमनेकधर्मात्मकं वा, परस्परनिरपेक्षं  
सापेक्षं वा, वस्तुवरूपं यत्तत्त्वमयत्तत्त्वं वा, यत्तत्त्वावयवत्त्वं वा,  
संयुक्तमविकृतं वा, भावरूपमभावरूपं वा, निरपेक्षमाभा-  
वरूपं वा, [ परस्परसापेक्षं ] उभयात्मकं वा, सगुणं निर्गुणं  
वा, परस्परनिरपेक्षमुभयं वा, [ परस्परसापेक्षं ] उभयात्मकं वा,  
अद्वैतं द्वैतं वा, नित्यमनित्यं वा, निरपेक्षनित्यानित्यं वा, तदपि  
सापेक्षं वा, सजिह्वमक्षणिकं वा, सजिह्वमक्षणिकं वा, सर्वथा शून्यं  
वा, स्वधर्मैः सम्बद्धमसम्बद्धं वा, सक्रियमक्रियं वा, शुद्धमशुद्धं वा,  
दृश्यमनुदृश्यं वा, इति शृष्टः स्पष्टमावष्टे ।

[ तत्र प्रथमं सामान्यमेव प्रमाणाय विषय इति मतं  
समालोचयति— ]

§२७. ॥ तावत्सामान्यमेव प्रमाणाय विषयः, विशेषनिरपेक्षाय  
व्याप्यमवयवम् । यदुक्तम्—

‘निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् व्यवपिपाकवत् ।’ [मी० श्लो०  
आहृति० श्लो० १०] इति । निराश्रयस्य सामान्यस्य क्वचि-  
त्कदाचित्कथंचित्केनचिदनुपलभ्यमानत्वान्, पन्थ्यामनन्धययत् ।  
सामान्यं हि नाम समानां धर्मः सधर्मः, स च खण्ड-मुण्डादि-

१. वचनार्थं श्रुतिः—‘सामान्यमनुवृत्तिस्वरूपम् । तच्च पदत्वं  
पुण्यपुण्योदराकारः, गोत्वमिति साहचर्यमित्यम् । तस्मात्तु व्यक्तित्वोदयत-  
स्यप्रतिपक्षमनेकवृत्तिः ।’—यावदो० पृ० ११७ । ‘सामान्यं द्विविधम्—  
उपलब्धसामान्यं तिर्यक् सामान्यं चेति । तत्रोपलब्धसामान्यं प्रमाणादिषु  
पर्यायेभ्यः कदाचित्कदाचित्कदाचित् इत्यम् । तिर्यक्सामान्यं भानाद्व्येषु पर्यायेषु

व्यक्त्यभावे<sup>१</sup> कुतः स्वात्मानमासादयति । तथा च प्रयोगः—  
 नास्ति केवलं सामान्यम्, व्यक्त्यभावेऽनाश्रितत्वात् । यो हि  
 वास्तवो धर्मः स न अनाश्रयो दृष्टः, यथा सुख-दुःख-हर्ष-विपा-  
 दादिः<sup>२</sup>, अनाश्रितश्चायम् ( सामान्यरूपो धर्मः ), तस्मान्नास्ति ।  
 तच्च सामान्यं वास्तवमवास्तव्यं वा । न तावदवास्तवम्, सौ-  
 गतमतानुपङ्गात् । नापि वास्तवम्, वास्तवे तत्किं धर्मो धर्मो वा  
 स्यात् । धर्मश्चेत्, ■ किं साधारणोऽसाधारणो वा । न तावदसा-  
 धारणः, तस्य विशेषरूपताऽऽपत्तेः । अथ साधारणः, स चासिद्धः,  
 यतः कैः सह साधारणत्वं तस्य, पदार्थान्तराभावात् । तदभावश्च  
 प्रमाणाविषयत्वात् । प्रमाणविषयत्वेन केवलं सामान्यमेवाङ्गीक्रियते  
 [ भयता ] । सदित्थं न साधारणोऽपि धर्मो विचारणां प्राञ्चति ।  
 नापि धर्मो, सामान्यस्य पदार्थधर्मत्वात् । धर्मित्वेनाङ्गीक्रियमाणस्य  
 तस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वात् । धर्मिणः पदार्थत्वेन सर्वैरपि लौकिकैः  
 परीक्षकैर्वाऽङ्गीकरणात्सामान्यमाश्रमेव तत्त्वमिति पक्षे कङ्गीक्रिय-  
 माणे धर्मिणः कस्याचिदप्यभावात् । धर्मो सामान्यमिति सामान्य-  
 माश्रं बन्ध्याभननन्धयो गौर इत्यादिवत् कथं न विरोधमास्कन्दति ।  
 तस्माद्भगनारविन्दमकरन्दद्वयावर्णनमिव 'सामान्यमेव प्रमाणस्य  
 विषय' इत्यादि सर्वमनवधेयार्थविषयत्वेनोपेक्षामर्हति ।

[ विशेष एव प्रमाणस्य विषय इति सौगतमतमुपन्यस्य तदपि  
 समालोचयति—]

■ सादृश्यप्रत्ययग्राह्यं सदृशपरिणामरूपम् ।'—युक्त्यनुशा० टी० पृ०  
 ९० । 'सामान्यं द्वेषा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् । ४-३ । 'सदृशपरिणामस्तिर्यक्  
 लण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ।' ४-४ । 'परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता, मृदिव  
 स्पादिषु ।'—४-५ । परीक्षामुख ।

§२८. एतेन 'विशेष एव प्रमाणस्य विषयः' इति सोगताभिमत-  
मपि निरस्तं बोद्धव्यम्, तस्यापि केवलस्य युगसहस्रे<sup>१</sup>णाऽप्यप्रतिभा-  
सनात् । नदप्युक्तम्—

‘सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ।’

[ मी० श्लो० आकृति० श्लो० १ ] इति ।

§२९. विशेषो<sup>१</sup> हि नाम व्यावृत्तिलक्षणां धर्मः, स च धर्मिणो  
द्रव्यस्याभावे कौतस्तुतः प्रमाणतामिययात् । अथ द्रव्यस्य कस्य-  
चिदपि विचार्यमाणस्याभावात् कथं विशेषाणां तदपेक्षा । स्वतन्त्रा  
एव विशेषाः प्रतिभासन्ते । तथा हि—विशेषा एव तरयम्,  
प्रत्यक्षादिप्रमाणानां तद्गोचरचारित्वेनैव प्रामाण्याभ्युपगमात्,  
न च द्रव्यत्वसामान्यं प्रमाणतः सिद्धम् । ततो नास्ति द्रव्यम्,  
प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वात्, शशविषाणयत् । तथा हि—नाध्यक्षं<sup>२</sup>  
तत्तादृकम्, तस्य रूपादिनियतगोचरचारित्वात्, सम्यग्दर्शयमान-  
विषयत्वाच्च । आलुपाऽध्यक्षेण रूपमेव सम्यग्दर्शयमानं च गृह्यते ।  
स्पर्शनेन<sup>३</sup> स्पर्श एव, घ्राणजेन<sup>४</sup> गन्ध एव, ग्रासनेन रस एव,  
धावणेन<sup>५</sup> शब्द एव, न तु रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दानां परस्परपरि-

१. को नाम विशेष इत्यरेकायामाह विभेपेति । ‘विशेषो नाम  
‘स्थूलोर्म्य घटः, सूक्ष्मः इत्यादिव्यावृत्तप्रत्ययालम्बनं घटादिस्वरूपमेव ।’—  
म्या० बी० पृ० १२० । तदुक्तं परीक्षामुखे—‘विशेषद्वय’ । ४-६ । ‘पर्याय-  
व्यतिरेकमेवात् ।’ ४-७ । ‘एकस्मिन् द्रव्ये क्रमशः परिणामाः पर्याया  
आत्मनि हर्षविषादादिवत् ।’ ४-८ । ‘अर्थान्तरगतो विषयदृशपरिणामो  
व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ।’ ४-९ ।

१. ‘युगसहस्रणा’ पाठः । २. ‘स्पर्शने’ पाठः । ३. ‘घ्राणेन’ पाठः ।

हारेणावस्थितानां विशेषरूपाणां व्यापकं द्रव्यं <sup>१</sup>चातुपादिप्रत्यक्षा-  
<sup>२</sup>त्सिद्धम् । तत्कथं प्रत्यक्षतस्तत्सद्भावः । [ <sup>३</sup>नाप्यनुमानं  
 तत्साधकम्, तस्य संबन्धग्रहणपूर्वकत्वात्, संबन्धग्राहकं च न  
 किञ्चित्प्रमाणमस्ति ] । न तावत्प्रत्यक्षं तत्संबन्धग्राहकम्, तेन  
 तथाविधसाध्यसाधनसम्बन्धस्याग्रहणात् । द्विष्टो हि सम्बन्धः,  
 एकस्य ग्रहणेऽपि अन्यस्याग्रहणे तदसंभवात् । तथा चोक्तम्—

द्विष्टसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।

द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबन्धवेदनम् ॥<sup>१</sup>

[ प्र० वार्तिकाले० १-२ ] इति ।

§३०. प्रत्यक्षस्य तद्ग्रहणं कुत इति चेत्, तस्य रूपादिनियत-  
 गोचरधारित्वेन प्राक् प्ररूपितत्वात् । पर्यायमात्रग्रहणे पर्यवसित-

१. तुलना—'न हि प्रत्यक्षं यावान्किञ्चिद्द्रव्यः कालान्तरे देशान्तरे च  
 पावकस्यैव कार्यं नार्यान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्, सन्निहित-  
 विषयद्रव्योत्पत्तेरविचारकत्वात् ।'—संघीष० वियु० का० ११, अष्टस०  
 पृ० २८०, प्रमाणपरी० पृ० ७०, प्रमेयक० ३-१३ । प्रमेयरत्न०  
 ३-२, पृ० ३६ ।

२. इयं कारिका निम्नग्रन्थेष्वपि समुद्धृता—सत्त्वार्थश्लो० वा०  
 ५-२४, पृ० ४२१ । सिद्धिविनिश्चय पृ० १३० । सन्मतितर्क  
 पृ० ४८३ । रत्नाकरावली० १-२०, पृ० ४२ । स्याद्वादर० का०  
 १६, पृ० १३० ।

१. 'चक्षुरादि' पाठः । २. 'प्रत्यक्षासिद्धम्' पाठः । ३. अत्र पाठः  
 द्रुतितः प्रतीयते, अतः कोष्ठकान्तर्गतः पाठोऽप्रामाणिनिश्चितः ।—संपादकः ।

त्वान् द्रव्यग्रहणे स्वप्नेऽप्यवृत्तेः । अनुमानादपि संवन्धग्रहणं नास्ति । अतएवानुमानाद् ग्रहणमनुमानान्तराद्वा । अतएव चेदन्योन्याश्रयः । सिद्धे हि द्रव्ये तन्निष्ठद्रव्यस्य सम्बन्धसिद्धिस्तत्सिद्धावनुमानसिद्धिरिति । अनुमानान्तराद्येदनवस्था । [ ततः ] अनुमानादपि न द्रव्यसिद्धिः, किन्तु पर्याया एव सत्त्वम्, तेषामेव प्रमाणविषयत्वं सिद्धिमधियसति<sup>१</sup> ।

§३१. अयेदमुच्यते—यदि विरोधा एव सत्त्वम्, तर्हि ते प्रत्यक्षत एव सिद्धाः किमनुमानसाध्यम्, येनानुमानमपि प्रमाणान्तरमाश्रियते । अन्यच्च 'प्रमेयद्वैविध्यात्प्रमाणद्वैविध्यम्'<sup>२</sup> [ प्र० वा० २-१ ] इति वचनमप्युन्मत्तभाषितमेव स्यात्, तदेतदप्यस्मदभिप्रायापरि-

१ नाप्यनुमानेन साध्यसाधनसम्बन्धग्रहणम्, 'तस्यानि देशादिविषयविशिष्टत्वेन व्याप्यविषयत्वान् । तद्विषयत्वे वा प्रकृतानुमानान्तरविकल्पद्वयानतिक्रमान् । तत्र प्रकृतानुमानेन व्याप्तिप्रतिपत्तावितरेतराश्रयत्वप्रसंगः । व्याप्तौ हि प्रतिपत्तायामनुमानमारमानमासादयति, तदात्मलाभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति । अनुमानान्तरेणाविनाभावप्रतिपत्तावनवस्थाचमूरी परपक्षमूंचञ्चमीवीति नानुमानगम्या व्याप्तिः ।'—प्रमेयरत्न० २-३, पृ० ३१-३७ तथा ८९ ।

२. 'प्रमाणं द्विविधं मेघद्वैविध्यान्'—प्र० वा० २-१ ।

'न प्रत्यक्ष-परोक्षार्था मेघस्यान्यस्य संभवः ।'—प्र० वा० ३-६३ ।

'ते हि प्रमेयद्वैविध्यात्प्रमाणं द्विविधं अगुः ।

नान्यः प्रमाणभेदस्य हेतुविषयभेदतः ॥'

—न्यायमं० पृ० २७ ।

1. 'विषयत्वसिद्धिमधियसति' पाठः ।

ज्ञानादेव भयताऽभाणि; स्वलक्षणानां<sup>१</sup> क्षणिकत्वादिसाध्येऽनुमान-  
चरितार्थत्वात् ।

§३२. तदेतन्न तथ्यम्, ताथागतानामपि द्रव्यसामान्यस्य  
निराकर्तुमशक्यत्वात् । 'प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वाद् द्रव्यं किमपि  
नास्तीति' यदुक्तं, भवता तत्सर्वमपि फल्गुप्रायं स्यात्, तस्य प्रत्यभिज्ञा-  
नप्रमाणेन सिद्धत्वात् । न प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणम्, तस्याप्यविसंवाद्-  
कत्वात्प्रत्यक्षादिवत् । यथा प्रत्यक्षानुमानाभ्यामर्थं परिच्छिद्य वस्तूप-  
दर्शक<sup>२</sup> स्थप्रापकत्वाविसम्यादकत्वेभ्यः प्रामाण्यं तथैकत्वनिबन्धनस्य  
प्रत्यभिज्ञानस्यापि घटादिपर्यायेषु मृद्द्रव्यस्यानुभूतस्य (अन्वयिनः)  
साधकत्वेनाऽऽयाल-गोपालादीनामपि प्रतीतिसिद्धत्वात्, प्रत्य-  
भिज्ञानं प्रमाणमेव । ततः सिद्धं द्रव्यम्, निराश्रयाणां पर्याया-  
दीनां स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः । तथाऽनुमानादपि द्रव्यसिद्धिः—अस्ति द्रव्य-  
म्, पर्यायाणामन्यथानुपपद्यमानत्वात्, यत्र न द्रव्यपदार्थस्तत्र न  
विशेषाः, यथा मृद्द्रव्याभावे घटादयः, अनुपपद्यमानत्वं च  
द्रव्याभावे विशेषागम् । तस्मात्पारमार्थिकपर्यायाणां सद्भावे द्रव्य-  
मपि पारमार्थिकमुररीकतद्रव्यम् । तत्कथं<sup>३</sup> विशेषा एव तत्त्वमिति ।  
[प्रमाणविषयत्वेनाभ्युपगतं केवलं सामान्यं केवलं विशेषं च  
निरस्याधुना स्वमतेन सापेक्षं सामान्यविशेषोभयं प्रमाण-  
विषयं दर्शयति—]

१ किं नाम स्वलक्षणम्—'यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञान-  
प्रतिभासमेदस्तत्स्वलक्षणम्', 'तदेव परमार्थसत्', 'अर्पकक्रियासामर्थ्यलक्षण-  
त्वादस्तुतः', 'अन्यत्सामान्यलक्षणम्', 'सोऽनुमानस्य विषयः ।'—न्यायवि०  
पृ० १५, १६, १७, १८ ।

१. 'दर्शकप्रापकत्वादपि' पाठः । २. 'कथं' पाठः ।

§ ३३. अथोभयं प्रमाणस्य विषयः, तत्किं सापेक्षं निरपेक्षं वा । सापेक्षं चेत्, सिद्धसाधनम् । सापेक्षयोः सामान्य-विशेषयोः कथं-चित्तादात्म्याभ्युपगमेन एकत्राभिन्ने वस्तुनि स्याद्वादिभिरङ्गीकरणात् तथैव प्रमेयत्वस्य सिद्धत्वात् । तथा हि—जीवादितत्त्वं सामान्य-विशेषात्मकमेव, प्रमेयत्वात्, यत्तु न सामान्यविशेषात्मकं तत्र प्रमेयम्, यथा केषलं सामान्यं केषलो विशेषो वा, प्रमेयं चेदम्, तस्मात्सामान्यविशेषात्मकमेव । तथा चोक्तम्—‘स्यात्सामान्यम्, स्याद्विशेषः, स्यादुभयम्, स्यादवच्छेद्यम्, स्यात्सामान्यावच्छेद्यम्, स्याद्विशेषावच्छेद्यम्, स्यात्सामान्यविशेषावच्छेद्यम्’ [ ] इति सप्रमत्तैर्निरूपितत्वात् । तथा सति विरोधादिशेषाणामप्यसंभवात् । तथैव प्रतीयमानत्वात् ।

[ स्वमतं प्रदर्शयित्वा यैशोपिकाभिमतस्य निरपेक्षस्य सामान्य-विशेषोभयस्य प्रमाणविषयत्वं निराकरांति—]

§ ३४. निरपेक्षं चेदुभयं प्रमाणस्य विषयः, न, विरोधादि-दोषोपनिपातात् । [ १ ] निरपेक्षयोः सामान्यविशेषयोर्विधि-प्रतिषेध-भावाभावरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरैकत्राभिन्ने वस्तुन्यसंभवात्, शीतोष्णवत्, इति विरोधः । [ २ ] न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव

१ तदुक्तमकलङ्कितैः—‘तद्द्रव्यपर्यात्माऽर्था बहिरन्तश्च तत्त्वतः ।’—लघी० का० ७ । ‘भेदाभेदेकान्तयोरेकानुपसङ्घेः अर्थस्य मिदिः अनेकागतात् । नास्तर्बहिर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्परानात्मकं प्रमेयं यथा मन्यते परं, द्रव्यपर्यावात्मनोऽर्थस्य बुद्धौ प्रतिभासनात् न केवलं साक्षात्करणं एकान्ते न संभवति, अत्रिमु—अर्थक्रिया न युगपेति नित्य-क्षणिकपक्षयोः । क्रमाक्रमस्या भावानां सा लक्षणतया यता ॥’—लघी० का० ८ । माणिक्यनन्दिनाऽप्युक्तम्—‘सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।’ परीक्षाम० ४-१ ।



प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति, एकरूपताऽऽपत्तेः, ततो  
 येयधिकरण्यमपरम् । [ ३ ] येनाऽऽत्मना सामान्यस्याधिकरणं येन  
 च विशेषस्य तावप्यात्मानो एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति द्वाभ्यां  
 स्वभावाभ्यां वा । एकेनैव चेत्, न तत्, पूर्वापरविरोधात् ।  
 द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां स्वभावद्वयमधिकरोति तदाऽनवस्था,  
 तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति । [ ४ ] संकर<sup>१</sup>दोषश्च—येनाऽऽत्मना  
 सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च । येन च  
 विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति । [ ५ ] येन  
 स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः येन च विशेषस्तेन च सामान्य-  
 मिति व्यतिकरः<sup>१</sup> । [ ६ ] तत्र च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निरचे-  
 तुमशक्तेः संशयः । [ ७ ] तत्राप्यप्रतिपत्तिः । [ ८ ] ततोऽभाव  
 इति सामान्यविशेषयोः स्वतंत्रयोः केनचित्प्रमाणेन गृहीतुम-  
 शक्यत्वात्स्वरविपाणवदप्रमेयत्वम् । तत्र सामान्यविशेषयोः  
 स्वतंत्रयोरेकस्मिन्नपि वस्तुन्यव्यवस्थितयोः प्रमाणविषयत्वम्,  
 विरोधादिदोषेणाप्रमेयत्वात् । स्याद्वादिनां तु जात्यन्तर- [ रवी ]-  
 कारणेन न फलित्वदोषो विपश्चिच्छेदसि चकारित ।

§ ३५. अथेदमुच्यते, नैतदेवम्, द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-  
 विशेष-समवायाः पटेष पदार्थाः परस्परं भिन्नाः तथा सति यथा  
 यदा नः पदार्थस्तिष्ठति तदा तदुन्मुखतया यदुत्पन्नं प्रमाणं तमेव

१. संकरव्यतिकरयोः को भेद इत्यत्रोच्यते—सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः  
 संकरः, परस्परविषयगमनं च व्यतिकरः ।

विषयीकरोति । अथेदमुच्यते, कथममीषां भेदो येनैवं<sup>१</sup> स्यादिति [ चेत् ], प्रमः—द्रव्यादयः पदार्थाः परस्परं भिन्नाः [ भिन्न-प्रत्ययविषयत्वात् ], भिन्नलक्षणलक्षितत्वात्, भिन्नकारणप्रभव-त्वात्, भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्, भिन्नकार्यजनकत्वात् । घट-पट-वन् । य एवं त्, एवं दृष्टाः, यथा घटादयः । एवंविधाश्चेते सर्वे । सामादेवंविधा एव । तत्र न सायद् भिन्नप्रत्ययविषयत्वमसिद्धम्, इदं द्रव्यमित्यादिप्रत्ययानां प्रतीयमानत्वात् । भिन्नलक्षणलक्षित-त्वमपि नासिद्धम् । तथा हि—‘क्रियावद्गुणश्च<sup>२</sup> त्समवायिकारणं द्रव्यम्’ [ यैशे० सू० १-१-१५ ] इति द्रव्यलक्षणम् । ‘द्रव्याभ्या निर्गुणा गुणाः’ [ तत्त्वा० ५-४१ ] इति गुणलक्षणम् । ‘उत्क्षेप-णावक्षेपणादुद्भूतगमनप्रसारणानि<sup>३</sup> कर्माणि’ [ यैशे० सू० १-१-७ ] इति कर्मलक्षणम् । अनेकव्यक्तिनिष्ठं सामान्यम् । एक-

१. तुलना—‘द्रव्यपर्यायो अत्यन्तं भिन्नो भिन्नप्रतिभागतत्वात्, पट-पटादिवत्’—‘तथा विदुषधर्माप्यासतोऽपि अनयोः जलाजलवत् भेदः ।’ ग्यायकु० पृ० ३५९ । एवं ‘भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्, भिन्नकारणप्रभव-त्वात्, भिन्नकालत्वात् ।’ इत्यपि ग्यायकुमुद्रकम् ( पृ० ३६२ ) प्रत्येकम् ।  
२. अत्र वैदोषिकद्वयः—‘रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याभितत्वं निष्क्रियत्वमगुणत्वं च ( लक्षणम् )’—प्रज्ञा० भा० पृ० १५९-१६१ । ३. ‘उत्क्षेपणादीनां पञ्चानामर्थाः कर्मत्वमद्वयं एकद्रव्य-वत्वं क्षणिकत्वं मूर्तद्रव्यवृत्तित्वं अगुणवत्वं संयोगविभागनिरपेक्षकारणत्वं समवायिकारणत्वं’—विशेषः ( लक्षणम् )—प्रज्ञा० भा० पृ० १७७-१४८ ।  
४. ‘सामान्यं द्विविधं परमपरं च । तत्त्वानुवृत्तिप्रत्ययकारणम् । तत्र परं सत्ता, मूलाविषयत्वात् । सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव । द्रव्यत्वादि अपरम्,

१. ‘येनैव’ पाठः । २. ‘क्रियावद्गुणसमवायि’ पाठः ।

३. ‘प्रसारणकारणानि’ पाठः ।

व्यक्तिनिष्ठो विशेषः । 'अयुतसिद्धानामाधारार्थाधारभूतानामिहेदं  
प्रत्ययलक्षणो यः संबन्धः [ स ] समवायः' [ प्रशस्त० पृ० ५ ]  
इति भिन्नलक्षणलक्षितत्वं सर्वेषामपि प्रसिद्धम् । विभिन्नकारणप्रभ-  
वत्त्वं ह्यनित्यानामेव, न तु<sup>१</sup> नित्यानाम्, ततो<sup>२</sup> न भागासिद्धत्वम् ।  
'सदकारणवन्नित्यम्' [ चैरो० सू० ४-१-१ ] इति नित्यलक्षणस्य  
व्यवस्थितत्वात् । भिन्नार्थक्रियाकारित्वं च विभिन्नकार्यजनकत्वा-  
देव सिद्धम् । विभिन्नकार्यजनकत्वं चामोपामुभयवादिप्रसिद्धत्वा-  
देव नासिद्धम् । तस्यैव हेतवो नासिद्धाः । नाऽपि विरुद्धाः,  
विपक्षवृत्त्यभावात् । नाऽप्यनैकान्तिकाः, पक्ष-सपक्षयद्विपक्षे  
वृत्त्यभावात् । नाऽपि कालात्यापदिष्टाः, पक्षस्य प्रत्यक्षादिमाधि-  
तत्त्वानुपपत्तेः । 'प्रत्यक्षादियाधितेऽर्थे प्रवर्तमानो हेतुः कालात्या-  
पदिष्टः' [ न्यायमं० पृ० १६७ ] इति यचनात् । नाऽपि सत्प्रति-

अल्पविपरवात् । तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सत् विशेषाख्या-  
मपि लभते । 'स्वविषयसर्वगतमभिप्रासकमनेकवृत्तिः' प्रशस्त०  
भा० पृ० ४ तथा १६४ ।

१. 'अन्तेषु भवा अन्त्याः स्वाश्रयविशेषकत्वादिशेषाः । विनाशार-  
म्भरहितेषु नित्यद्रव्येषु अष्वाकाशकालदिगारममनस्यु प्रतिद्रव्यमेकैकशो  
वर्तमानाः अत्यन्तव्यावृत्तिवृद्धिहेतवः ।'—प्रशस्त० भा० पृ० १६८ ।  
२. 'अयुतसिद्धानामाधारार्थाधारभूतानां यः संबन्ध इहप्रत्ययहेतुः स  
समवायः ।' 'यथेह कुष्ठे दधीति प्रत्ययः संबन्धे सति दृष्टस्तथेह  
तन्तुषु पटः, इह वीरणेषु कटः, इह द्रव्ये गुणकर्मणी, इह द्रव्यगुणकर्मसु  
सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्, इह गुणे गुणत्वम्, इह कर्मणि कर्मत्वम् ।  
इह नित्यद्रव्येऽन्त्या विशेषा इति प्रत्ययदर्शनादस्त्येषां संबन्ध इति  
जायते । न चासौ संयोगः संबन्धिनामयुतसिद्धत्वात् अन्यतरकर्मादि-  
निमित्तासम्भवात् ।'—प्रश० भा० पृ० १७१-१७२ । ३. 'कालात्यया-  
पदिष्टः कालातीतः'—न्यायसू० १-२-९ । 'यथा प्राप्तं हेतुप्रयोगकाल-

१. 'ननु' पाठः । २. 'ततो' पाठः । ३. 'वायवत्वानुपपत्तेः' पाठः ।

पक्षाः, प्रतिपक्षसाधनस्य कस्यचिदप्यभावात् । ततः प्रत्येकं नैवेद्यं  
द्रव्यादीनां प्रमाणस्य विषय इति ।

§ ३६. एतदपि न धोमदृष्टिकरं नैयायिकं ( वैशेषिकं )  
मन्यमानानाम्, द्रव्यादीनां सर्वथा भेदता, म्यान् १ इति  
द्रव्याद्विभो गुणपदार्थः, सत्कथमस्यायं गुण इति व्यनक्ति-  
सम्बन्धमाभावात् । तयोश्च सम्बन्धः किं समवायः संवेत्ते ८ १ न  
तायत्समवायः, तस्यामिद्वेः । तदसिद्धिश्च तस्य विचक्षण-  
योगात् । सर्वथा भेदे यः संबन्धः स कथं नाम संवेत्ते ८ १ न  
महति, कुण्डवद्वरसत्, [ तस्य ] संयोगस्यैव संवेत्ते ८ १ न

§ ३७. अथ द्रव्य-गुणयोरयुतसिद्धत्वेन मन्यमाने संवेत्ते ८ १ न  
संयोग इति । अत्रायुतसिद्धत्वं नाम किमिदं दृष्टव्यं, किं  
पृथक्पृथक्पृथक्पृथक् वा, किं कथंचित्तादात्म्यं वा इति विवेकप्र-  
मत्तरति । प्रथमपक्षे, जलानिलादीनामयत्सिद्धत्वेन संवेत्ते ८ १ न  
प्रसङ्गादेकत्वं स्यात् । तथा च सति [ संवेत्ते ८ १ न ] पृथक्पृथक्

मतीत्य यो हेतुरपदिश्यते स कालात्ययान्ति- १ इति ।  
अयमर्थः—हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्ष- २ इति ।  
तमतीत्य प्रयुज्यमानः प्रत्यक्षागमबाधिते तत्र ३ इति ।  
परिच्छेदो भवति ।—ग्यायमं हेत्वानाह ४ १ ३ ३ ।  
विशदः कालात्ययमापदिष्टः । अत्रादि- ४ इति ।  
तमतीत्यासावपदिष्ट इति । अनुजो- ५ इति ।  
विशदः । ब्राह्मणेन मुरा पेया द्रव्य- ६ इति ।  
ग्यायकलिका प ० १५ ।

१. वैशेषिका अभिदधति अवेति । २. संवेत्ते ८ १ न  
३. 'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेरौजस्रस्य' इति ।  
विशेषसंज्ञकानि नवैव, तद्व्यतिरेक- ४ इति ।  
ग्रन्थः—प्रशस्त ० भा० पृ० ३ ।

१. 'वर्तति' वा प्रती १ इति । २. 'स्यान्' ।

१ पाठः ।

जो-वाय्वाकाश-दिगात्म-काल-मनांसि [ नवैव ]' [ प्रशस्त० भा० पृ० १४ ] इति ग्रन्थविरोधः । रूपरसादीनामप्यपृथक्सिद्धत्वेन परस्परं भेदाभावात् 'चतुर्विंशतिर्गुणाः' [ प्रशस्त० भा० पृ० ३ ] इत्यस्यापि विरोधः । तन्नायः पक्षः श्रेयान् । नापि द्वितीयः, तस्यापि विचार्यमाणस्य शतधा विचार्यमाणत्वान्न विचारश्चतुरचेतसां चेतसि वर्धति<sup>१</sup> । तथा हि—पृथक्कर्तुं मशक्यत्वं हि द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानामप्यस्ति, तेषामपि भेदाभावात्प्रसङ्गात् । 'द्रव्यादयः पदेव पदार्थाः परस्परं भिन्नाः' इति प्रतिज्ञा होयते ।

§ ३८: स्यान्मतिरेपा<sup>२</sup> ते वाताऽऽतपादीनां पृथक्कर्तुं मशक्यत्वे भेदाभावप्रसङ्गः, तयोरप्ययुतसिद्धत्वं स्यात् । यद्येवम्, किं तर्हि नैतावता<sup>३</sup> अयमतिप्रसङ्गो भवतामपि बाधकः । न ह्यनेनास्माकं षालाप्रमपि खण्डयितुं शक्यते । तस्मात्पृथक्कर्तुं मशक्यत्वम-युतसिद्धत्वं न सिद्धिमपिबसति । नापि कथंचित्तादात्म्यम्, द्रव्यगुणयोः कथंचिदभेदप्रसङ्गात् । कथंचित्तादात्म्ये हि जैनमत-प्रसङ्गेन 'पदेव पदार्थाः परस्परं भिन्नाः' इति प्रच्यवते<sup>४</sup> । ततश्च समवायस्य कथंचित्तादात्म्यमन्तरेणासिद्धेः कथमस्य द्रव्यस्यायं गुण इति व्यपदेशः सिद्धयेत् । तन्न 'पदेव पदार्थाः परस्परं भिन्नाः प्रमाणस्य विषयाः' इति, किन्तु गुण-गुण्यात्मकं सामान्य-विशेषात्मकं द्रव्य-पर्यायात्मकं जात्यन्तरं प्रमाणविषयत्वेन सिद्धमिति ।

[परमब्रह्म एव प्रमाणस्य विषय इति वेदान्तितानां मतं विस्तरत उपन्यस्य तत्समालोचयति—]

§ ३९. ननु परब्रह्मण एवैकस्य परमार्थस्य विधिरूपस्य विद्यमानत्वात्प्रमाणविषयत्वं, अपरस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्य-

1. 'वर्धति' य पाठः, 'वर्धति' आ पाठः । 2. 'स्यान्मतिरेपा'—ते वाता..... पाठः । 3. 'न भिन्नमेतावता' पाठः । 4. 'प्रच्यवते' पाठः ।



[पूर्ववत्ती मीमांसकाभिमतसभावप्रमाणं तद्विषयमभावं च निराकुर्वन् विधितत्त्वमेव प्रसाधयति—]

§ ४२. यथाभावाख्यं प्रमाणम्, तस्य प्रामाण्याभावात् न तत्प्रमाणम्, तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात् । यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव, तेनैव<sup>१</sup> प्रमेयत्वस्य व्याप्तिश्चात् । सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तस्यम् । यत्तु न विधिरूपं तन्न प्रमेयम्, यथा खरविपाणम् । तथा चेदं प्रमेयं निखिलं वस्तुरूपम्, तस्माद्विधिरूपमेव । अतो वा तत्सिद्धिः—प्रामाऽऽरामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात् । यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव, यथा प्रतिभासस्वरूपम् । प्रतिभासन्ते च प्रामाऽऽरामादयः पदार्थाः, तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः । आगमोऽपि तदावेदकः समुपलभ्यते—‘पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्’ [ ऋक्सं० म० १०, सू० ६०, ऋ० २ ] इति । ‘ओतव्योऽयमात्मा निदिध्यासितव्योऽनुमन्तव्यः’ [ बृहदा० २-४-५ ] इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः कृत्रिमेणाप्याऽऽगमेन तस्यैव प्रतिपादनात्<sup>२</sup> । उक्तं च—

‘सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म’ [ छान्दोग्यो० ३।१।१ ] ‘नेह नानाऽस्ति किञ्चन ।’ [ बृहदा० ४-४-१ ] ।

‘आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति करचन ॥’ [ बृहदा० ४-३-१४ ] इति ।

१. पूर्णमुनियट्टाक्यमिदं “आरामा वा अरे द्रष्टव्यः ओतव्यो मन्तव्यं निदिध्यासितव्यो मैत्रीय्यात्मनि खल्वरे दष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् ।”—बृहदा० २।४।५, ४।५।६।

§ ४३. [किं च, अन्यतोऽपि अनुमान-] प्रमाणतरतस्यैव सिद्धेः । परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सकलभेदानां तद्विवर्तत्वात् । तथा हि—सर्वे भावा ब्रह्मविधर्ताः सत्त्वैकरूपेणान्वितस्तथा । यद्य-  
द्रूपेणान्वितं तत्तदात्मकमेव, यथा घट-घटी-शरावोदघ्नादयः  
मृद-पेणैकेनान्वितस्यान्मृद्विधर्ताः, सत्त्वैकरूपेणान्वितं सफलं  
व्यतिष्ठति सिद्धं ब्रह्मविधर्तत्वं निखिलभेदानामिति ।

§ ४४. यदुच्यते, तत्सर्वं मदिरारसात्पादगद्रोदितमिव  
मदनकोट्रयाद्युपयोगजनितन्यामोहमुग्धविलसितमिव निखिलमद-  
भासते<sup>१</sup>, विचारासहत्वात् । सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धेन<sup>२</sup> वचसा  
किञ्चित्सिद्धिमभियसति । अद्वैतमते प्रमाणमपि नास्ति । तत्सद्भावे  
द्वैतप्रसंगात्, अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात् ।

§ ४४. अथ मतम्, लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाण-  
मभ्युपगम्यते, तदेतदतिशयेन बालविलसितम्, त्वन्मते लोक-  
स्यैवासंभवात् । एकस्यैव नित्यनिरंशस्य परमब्रह्मण  
एव सद्भावात् । अथाऽस्तु यथाकथंचित्प्रमाणमपि, तर्हि प्रत्यक्ष-  
मनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुरोक्रियते । न तावत्प्रत्यक्षम्,  
तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव<sup>३</sup> प्रकाशकत्वाद्, अयला-बाल-  
गोपालानां तथैव प्रतिभासनात् ।

§ ४५. यद्य निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकमित्युक्तम्, तदपि न  
धीमदृष्टिकरम्, तस्य प्रामाण्यानभ्युपगमात् । सर्वस्यापि प्रमा-  
णस्य<sup>४</sup> व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः ।  
सर्विकल्पकेन तु प्रत्यक्षेण प्रमाणभूतेन एकस्यैव विधिरूपस्य परम-  
ब्रह्मणः स्वप्नेऽप्यप्रतिभासनात् ।

१. 'निखिलमेव भासति' पाठः । २. 'प्रमाणसिद्धान्ते न हि वचस्तः'  
पाठः । ३. 'प्रकाशत्वावत्' पाठः । ४. 'प्रमाणत्वस्य' पाठः ।



§४६. यदप्यभाणि, 'आहुर्विधातु प्रत्यक्षम्' इत्यादि, तदपि न स्वेष्टमजनिष्ट शिष्टानामिति चिन्त्यताम् । प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्ति ( स )-व्यावृत्ताकारात्मकवस्तुन एव<sup>१</sup> प्रकाशनात् । न ह्यनुस्यूतमेकमखण्डं सत्तामार्शं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते, येन 'यद्वैतं तत् ब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्युक्तं शोभेत<sup>२</sup>, विशेषनिरपेक्षस्य सामान्यस्य स्वरविषाणवदप्रतिभासनात् । तदुक्तम्—

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्स्वरविषाणवत् ।

सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥

[ मी० श्लो० आ० श्लो० १० ]

§४७. ततः सिद्धः सामान्यविशेषात्माऽनवद्यो विषय इति, एकस्य परमब्रह्मण एव विषयत्वासिद्धेः ।

§४८. यच्च 'प्रमेयत्वात्' इत्यनुमानमुक्तम्, तदप्येतेनैव निरस्तं बोद्धव्यम्, पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ 'प्रतिभासमानत्वं साधनमुक्तम्, तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायालमित्यफलद्रुमकलङ्कुरासनमेव ।

§४९. प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः परतो वा, न सायत्तवतः, घटपटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वेनासिद्धत्वात् । परतः प्रतिभासमानत्वं हि परं विना नोपपद्यते, इति ।

§ ५०. यच्च 'परब्रह्मणो विद्यतेवर्तित्वमखिलभेदानाम्' इत्युक्तम्, तदप्यन्वेष्टव्यमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रति-  
षन्नात्येव । न च घटादीनां चैतन्यान्ययोऽप्यस्ति, गृदाद्यन्य-  
यस्यैव तत्र दर्शनात् । ततो न किञ्चिदेतत् । अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः ।

§ ५१. किं च, पक्ष-हेतु-दृष्टान्ता अनुमानोपायमृताः परस्पर-भिन्ना अभिन्ना वा । भेदे, द्वैतसिद्धिः । अमेदे त्वेकरूपताऽऽपत्ति-स्तत्कथमेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति । यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात्तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः । तदुक्तम्—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।  
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं याङ्मात्रतो न किम् ॥

[ आप्तमी० का० २६ ]

§ ५२. 'सर्वं यै त्वत्त्विदं ब्रह्म' इत्याद्यागमादपि न तत्सिद्धिः, तस्यापि द्वैतादिनाभावित्वेनाद्वैतं प्रति प्रामाण्यासंभवात् । वाच्य-याचकभावलक्षणस्य द्वैतस्य तत्रापि दर्शनात् । तदुक्तम्—  
कर्म-द्वैतं फल-द्वैतं लोक-द्वैतं विरुध्यते ।<sup>१</sup>

विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद् बन्ध-मोक्षद्वयं तथा ॥

[ आप्तमी० का० २५ ]

ततः कथमागमादपि तत्सिद्धिस्ततो न पुरुषाद्वैतमेव प्रमाणस्य विषयः ।

§ ५३. नाप्यनेकमेव तत्त्वं प्रमाणस्य विषयः, तस्यापि परस्परनिरपेक्षस्य केवलसमान्यस्य विशेषस्य वा, तद्द्वयस्य वा प्रमाणादिपक्षेण प्राक्प्ररूपितत्वात् । तन्नानेकमेव तत्त्वं [अपि तु] परस्परसापेक्षमेकमनेकं च [तत्] <sup>२</sup>स्याद्वादिनामभीष्टमेव ।

[इत्थं नाद्वैतं नापि द्वैतं प्रमाणस्य विषय इत्यभिधाय प्रदर्श्य च परस्परसापेक्षयोरेवैकानेकयोः प्रमाणविषयत्वमिति सप्तमङ्गीनयेन प्रदर्शयति—]

§ ५४. यतः स्यादेकम्, द्रव्यापेक्षया ॥१॥ स्यादनेकम्, पर्यायापेक्षया ॥२॥ स्यादेकानेकम्, क्रमेणोभयापेक्षया ॥३॥

1. 'च नो भवेत्' इत्याप्तमीमांसापाठः । 2. 'स्याद्वादिनामभीष्टमेव' पाठः ।

स्यादवक्तव्यम्, युगपद्द्रव्यपर्यायापेक्षया वक्तुमशक्यत्वात् ॥४॥  
 स्यादेकावक्तव्यम्, द्रव्यापेक्षत्वे सति युगपद्द्रव्यपर्यायापेक्ष-  
 या वक्तुमशक्यत्वात् ॥५॥ स्यादनेकावक्तव्यम्, पर्याया-  
 पेक्षत्वे सति युगपद्द्रव्यपर्यायापेक्षया वक्तुमशक्यत्वात् ॥६॥  
 स्यादेकानेकावक्तव्यम्, क्रमार्पितद्रव्यपर्यायापेक्षत्वे सति युग-  
 पद्द्रव्यपर्यायापेक्षया वक्तुमशक्यत्वात् ॥७॥ इति सप्तभङ्गी

१ ननु केयं सप्तभङ्गी, इति चेत्, उच्यते, 'प्रश्नवशादेकव वस्तुन्य-  
 वरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी ।'—तत्त्वार्थशा० १-६ । ग्याप-  
 विनिश्चयेऽपि धीमवकलङ्कदेर्वक्तव्यम्—

द्रव्यपर्यायसामान्यविरोधप्रविभागतः ।

स्याद्विधिप्रतिषेधार्थां सप्तभङ्गी प्रवर्तते ॥४५॥

धीयशोबिजयोऽप्याह—'एकव वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन  
 व्यस्तयोः समस्तमोदच विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराद्धितः सप्तधा  
 बाधप्रयोगः सप्तभङ्गी । इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविध-  
 धर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविध-  
 प्रश्नानुरोधादुपपद्यते ।'—जैनतर्कशा० पृ० १६ । 'ननु एकत्रापि जीवादिब-  
 स्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसङ्गावात्तत्कल्पनाऽनन्तभङ्गी स्यात् (न  
 तु सप्तभङ्गी), इति चेत्, न, अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्, तत्रैकत्वा-  
 नेकत्वादिकल्पनयापि सप्तानामेव भङ्गीनामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नानां ताव-  
 तमेव सम्भवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात् । सप्तविध एव  
 शनः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासापटनात् । साऽपि सप्तविधा कुत  
 ति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः । सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्,  
 'द्रव्यवस्तुधर्मसप्तविधत्वात् ।'—प्रवृत्त० पृ० १२५, १२६ । के ते वस्तु-  
 ष्टाः सप्तधर्मा इत्यवोच्यते—(१) सत्त्वम् (२) असत्त्वम्, (३) क्रमापि-

प्रमाणविषयतामियति ।

[ प्रमाणप्रमेयभेदात्प्रतिज्ञातं द्विविधं तत्त्वं परीक्ष्याधुना तस्य वक्तव्यावक्तव्यतां परीक्षितुमुपक्रमते । तत्र 'तत्त्वं सकलविकल्प-वागोचरातीतं ( अवक्तव्यम् ), केवलं निर्विकल्पकप्रत्यक्षगम्यम्' इति बौद्धानां पूर्वपक्षः प्रदर्श्यते—]

§ ५५. तत्त्वं सकलविकल्पवागोचरातीतं निर्विकल्पकस्यानु-  
भवविषयस्वलक्षणरूपं प्रमाणविषयत्वेन जागर्ति । यतो विकल्पाः

तौमसं सत्त्वासत्त्वस्थम्, (४) सहापितोभयमवक्तव्यत्वम्, (५) सत्त्वमहिमवक्तव्यत्वम्, (६) अमत्त्वमहिमवक्तव्यत्वम्, ( ७ ) मत्त्वा-  
सत्त्वविशिष्टमवक्तव्यत्वम् इति । न्यायशीषिकाकारोऽपि एतदेव प्रतिपा-  
दयति—'द्रव्याधिकन्याभिप्रायेण सुवर्णं स्यादेकमेव, पर्यायाधिक-  
न्याभिप्रायेण स्यादनेकमेव, क्रमेणोभयन्याभिप्रायेण स्यादेकमनेकं च,  
युगपदुभयाभिप्रायेण स्यादवक्तव्यम्, युगपत्प्राप्तेन नयद्वयेन विविक्तास्वरूप-  
भोरेनत्वानेकत्वयोश्चिन्तासंभवात् । न हि युगपदुपनतेन शब्दद्वयेन घटस्य-  
प्रधानभूयो रूपवत्वरसवत्त्वयोर्विविक्तरूपयोः प्रतिपादनं शक्यम् ।  
तदेकवक्तव्यस्वरूपं तत्तदभिप्रायैरुपनतेनेकत्वादिना समुचितं स्यादेकमवक्त-  
व्यम्, स्यादनेकमवक्तव्यम्, स्यादेकानेकमवक्तव्यमिति स्यात् । नैया-  
यविनियोगपरिपाटी सप्तभङ्गीति उच्यते । भङ्गवत्तस्य वस्तुस्वरूपभेदा-  
वत्त्वात् । मत्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गीति मिदं ।'-न्या०  
श्री० पृ० १२६-१२७ ।

१. बौद्धः शङ्कते—तत्त्वमिति । अस्याः शङ्काया मयं भावः—यत्  
तत्त्वं स्वच्छाणम्, तच्च निर्विकल्पकं परमार्थतत्त्व तदेव च प्रमाणविषयम् ।  
विकल्पास्तु अवस्तुनिर्मासकाः तेषां नामसंशयत्वेन शब्दोत्पन्नत्वात् ।  
उक्तानां चार्थः सम्बन्धासम्भवात् न स्वलक्षणरूपं तत्त्वं तद्विषयोक्रियते,  
अपि तु निर्विकल्पकप्रत्यक्षविषयं तत् । तत्कृतः मामान्यविशेषात्मागर्थः  
प्रमाणस्य विषय इति ।

सर्वेऽपि भावाभावाद्या न चास्तवस्वलक्षणविषयास्तेषामन्यथावृत्ति-  
रूपतयाऽवस्तुनिर्भासमानत्वात् । विकल्पो हि नामसंश्रयो न  
घस्त्वचलम्भनः । न हि नाम कस्यचित्पदार्थस्य धर्मस्तस्य संज्ञा  
मात्रतया संख्यवद्वर्तुमिर्व्यवहरणात् । 'अतद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकं  
नाम' [ ] इति भवद्विरप्यङ्गीकरणात् । उक्तं च—'अभिलापसंज्ञ-  
र्गवतो प्रतीतिः कल्पना' [न्या० वि० पृ० १०] । न हि शब्दोऽर्थधर्मः  
शब्दार्थयोः संयन्धाभावात् ।

[जैनाः सत्समालोचयन्तः प्राहुः—]

§ ५६. तत् कल्पितमवकल्प्यते, शब्दार्थयोर्वाच्यवाचक-  
संयन्धसद्भावात्सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दोऽर्थे धियमावि-  
र्भावयति । न च विकल्पो नामसंश्रय एव, शब्दानुच्चारणेऽपि  
निश्चयात्मकविज्ञानादेव यथावस्थितार्थप्रतिपत्ति-प्रवृत्ति-प्राप्ति-  
दर्शनात् । तन्न सकलविकल्पविकलं तत्त्वमित्यकलङ्कशासनम् ।  
तथा चोक्तम्—

सत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पैर्विश्वाभिलापास्पृशतामतीतम् ।  
न त्वात्मवेद्यं न च तन्निगद्यं सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्तियाहम् ॥

[युक्त्यनु० फा० १६]

१. जैन उत्तरयति—तत् कल्पितमवकल्प्यते इति । अस्मायं भावः—  
भवता यदुक्तं तत् कल्पनामात्रम् । यतो हि शब्दार्थयोर्वाच्यवाचक-  
संयन्धसद्भावात् सहजयोग्यतासङ्केतवशाच्छब्दो अर्थे ज्ञानं करोत्येव ।  
न च विकल्पाः शब्दजा एव, शब्दोच्चारणाभावेऽपि तेषां मानस-  
विकल्पानां उदयसायात्मकरूपज्ञानरूपाणां समुद्भवात् । तेषां च सामान्य-  
विशेषात्माऽर्थ एव विषय इत्यकलङ्कमेवाकलङ्कशासनम् ।

१. 'स्वस्य वेद्यं' इति युक्त्यनुशासने पाठः ।

§ ५७. तदेतत्<sup>१</sup> किञ्चित्प्रमाणविषयभूतोऽर्थः सामान्यविशेषात्मको भावाभावात्मको नित्यानित्यात्मकः । किं बहुना । अभेद-भेदाद्यनेकधर्मात्मकः [ अपि ] । प्रमेयत्वस्यान्यथानुपपत्तेः । यस्तु सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मात्मको नास्ति स प्रमेयार्थो न भवति । यथा स्वरविषाणम् । प्रमेयार्थश्चायम् । तस्मात्सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मात्मकः । तदुक्तम्—

अभेद-भेदात्मकमर्थोत्तरं तव स्वतन्त्राऽन्यतरत्त-पुष्पम् ।

अवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः संसर्गदानेः सफलार्थ-दानिः ॥

[ युक्त्यनु० का० ५ ]

तथा हि—

भावेषु नित्येषु विकार-दानेन कारक-व्यापृ<sup>२</sup>त-कार्य-युक्तिः ।

न चन्द्र-भोगी<sup>३</sup> न च तद्विभोक्षः समन्त-दोषं<sup>४</sup> मतमन्यदीयम् ॥

[ युक्त्यनु० का० ८ ]

तथा च—

‘क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्धगते ।

कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥

[ आप्तमी० का० २४ ]

उक्तं च—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसाऽर्थम् ।

अवृत्त्यमन्यैः<sup>५</sup> सफलैः प्रवादैर्जिनः<sup>६</sup> त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥

[ युक्त्यनु० का० ६ ]

- 
1. 'तदेतत्' द पाठः । 2. 'व्यापृत' द पाठः । 3. 'भोग्यी' पाठः ।  
 4. 'द्वितीयम्' द पाठः । 5. 'अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि' इत्यर्थं पाठ आप्तमी०  
 मांसायाम् । 6. 'निर्लिप्तः' इति पाठो युक्त्यनुशासने ।

§ ५८. ननु यद्येवं कथमेकाधिपत्यं न भवतीति चेत्, इत्य-  
त्राप्युक्तं समन्तभद्राचार्यैः—

कालः कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा ।  
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-प्रभुत्वशक्तेरपवाद-हेतुः ॥

[ युक्त्यनु० का० ४ ]

[ इति प्रमेयतत्त्व-परीक्षा ]

इति श्रीनरेन्द्रसेनविरचिता प्रमाणप्रमेयकलिका समाप्ता ।



१. द प्रती पाठः—'लिपिभूत-शुभचिह्नक-लेखक-दयाचन्द्रम्हातमाः (महा-  
त्मा) शुभमस्तु । मिति आदया प्रथम 'शुक्लपक्षे षष्ठि ९. रिविवासरै  
संवत् १८७१ का' ॥ इति लेखकप्रशस्तिः ॥ आ प्रतावपि अयमेव पाठः ।  
सेयं प्रतिः द प्रतेरेव प्रतिलिपिः । यतोऽस्या आ प्रतेरन्ते लिखितम्—  
'उक्त प्रति नया मन्दिर धर्मपुरा देहलीसे भोगवाकर श्री जैन सिद्धान्त-भवन  
आराके लिए संग्रहार्य श्रीमान् पं० के० भुजवलो शास्त्रीको अध्यक्षतामें  
यह प्रतिलिपि की गई । इति शुभमस्तु ॥ शुभमिति मार्गशीर्षशुक्ल  
द्वादशी १२. चन्द्रवार विरुमसंवत् १९९१ हस्ताक्षर रोगनलाल  
जैन इति ॥'

प्रमाणप्रमेयकलिकायाः

परिशिष्टानि



यालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोषार्जितैः,  
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलियलात्प्रायो गुणद्वेषिभिः ।  
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,  
सम्यग्ज्ञानजलैर्घोचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥

—श्रीमद्भट्टकलङ्कदेवः, न्यायविनिश्चये ।

## १. प्रमाणप्रमेयकलिका-गतावतरणानि

अद्वैतमे वदन्ति संज्ञाकर्म नाम [	४४
अद्वैतान्तराभेदे [ आप्तमो० वा० २४ ]	२४
अभिन्नारसंयोगवती प्रतीतिः [ न्यायत्रि० परि० १. पृ० १० ]	४४
अभेदेनेशत्वकर्मव्यतिरिक्तं [ युक्त्यनु० वा० ७ ]	४५
अव्युत्पिडानामाधारार्थधार- [ प्रम० भा० पृ० ५ ]	३४
अस्मि ह्यालोचनं ज्ञानं [ मी० दलो० प्रत्यक्षमू०, श्लोक १२० ]	३७
आप्तमं तस्य वदन्ति [ युक्त्या० ४३।१४ ]	३८
आवृत्तिरानु प्रत्यक्षं [ अत्रि० तत्त्वार्थ १ ]	३७
इन्द्रियान्तरमालोचयन्ति [	९
इन्द्रियान्तरमालोचयन्ति [ वैद्यपि० मू० १-१०३ ]	३३
कर्मद्वैतं कर्मद्वैतं [ आप्तमो० वा० २५ ]	४१
कर्मद्वैतः पञ्चमेर्भावः [	२४
कानः कानिर्वा [ युक्त्य० का० ५ ]	४६
त्रिधावद्वैतमवधारयितुं [ वैद्यपि० मू० १-११५ ]	३३
चतुर्विधनिर्गुणाः [ प्रत्यक्ष० भा० पृ० ३ ]	३६
एवं विमुक्तं एकलोकिकत्वैः [ युक्त्य० वा० १९ ]	४४
इयमवमन्त्याग-समाधिनिष्ठं [ युक्त्यनु० वा० ६ ]	४५
इत्यादिनिर्गुणा गुणाः [ तत्त्वार्थमू० ५-४१ ]	३३
इन्द्रियान्तरमालोचयन्ति [ प्र० वातिवाल० १-२ ]	२८
निर्विरोधं हि सामान्यं [ मी० दलो० आहु० श्लो० १० ]	२५
निर्विरोधं हि सामान्यं [ मी० दलो० आहु० श्लो० १० ]	४०
नेह नानास्मि किञ्चन [ बृह० ४-४-१९, वटोप० ४-११ ]	३८
प्रत्यक्षमेवानु [ साह्यका० का० २२ ]	८
प्रत्यक्षसाक्षादभेदं [ न्यायमं० हेत्वाभासप्र० पृ० १६७ ]	३४

प्रत्यक्षाद्यवतारः [ मी० दलो० पृ० ४७८ ]	३
पृथिव्यप्तेजोवाय्वा- [ प्रशस्त० मा० पृ० १४ ]	३
प्रमेयद्वैविध्यात्प्रमाणद्वैविध्यम् [ प्र० वा० २-१ ]	२
पुण्य एवेदं सर्वं [ ऋक्० मण्ड० १०, सू० १०, ऋ० २ ]	३८
भावेऽपु नित्येषु विकारहानेः [ युक्त्यनु० का० ८ ]	४५
मद्वैतं ब्रह्मणो रूपं [ ]	३७
सञ्चारणव्यतिरिक्तम् [ वैशेषि० सू० ४-१-१ ]	३४
सर्वं वै रात्रिप्रदं ब्रह्म [ छान्दोग्योप० ३-१४-१ ]	३८
पञ्चैव पदार्थाः परस्परं भिन्नाः [ ]	३६
द्यौतज्योत्स्नमात्मा [ बृहदा० २-४-५, ४-५-६ ]	३८
हेतोर्लक्षितसिद्धिरन्वेत् [ धाण्यमी० का० २६ ]	४१
स्वावरणक्षयोपशमलक्षण- [ परीक्षामु० २-९ ]	१९
शक्तिर्कामतपशोऽपि [ आप्तमी० का० २४ ]	४५

## २. प्रमाणप्रमेयकलिकायां निर्दिष्टा न्यायाः

न हि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वकायस्वच्छमारोहति	२२
न हि भ्रूतीदणोऽपि राक्षसपारः स्वात्मानं छिनत्ति	२२
नैकं स्वस्मात्प्रजायते	२४, ४५

## ३. प्रमाणप्रमेयकलिका-गत-निर्दर्शनवाक्यानि

अशला-शाल-गोपालानाम्	३९
आ-शाल-गोपालादीनाम्	३०
आ-विद्वदङ्गना-प्रसिद्धम्	१९, २४
सुरविपाणवत्	२५, ३२, ४०
गगनारविन्द-भकरन्द-व्यावर्णनमिव	२६
बन्ध्यास्तनन्धयवत्	२५
बन्ध्यास्तनन्धयो गौर इत्यादिवत्	२६

बाल-भूकादि-विज्ञान-मदृशम्	३७
मदन-कोटवाद्युपयोग-अग्नि-व्यामोह-मुग्ध-विलम्बितमिव	३९
मदिरा-रसाऽऽत्वाद-मदुग्धदोदितमिव	३९

### ४. प्रमाणप्रमेयकलिकाऽन्तर्गत-विशिष्ट-शब्दाः

अकलङ्कनासन ४०, ४४	परमगुण्य	३९	लौकिक	२९	
अद्वैत २५, ३७, ३९, ४०,	परमब्रह्म	३७, ३९	विद्यानन्द	१	
४१	परीक्षाक	२६	वेद	३८	
अद्वैतमत	३९	परीक्षादत्त	१६	मत्ताद्वैत	३७
अद्वैतकास्त	२४	पुण्य	९, ३८	सप्तभङ्ग	३१
जिन	४५	पुरुषार्थ	४०, ४१	सप्तभङ्गी	४२
जिनेश्वर	३	प्रवृत्ति	८	सत्यवाक्याधिप	१
जैनमत	३६	ब्रह्म ३७, ३८, ३९, ४०,		समन्तभद्राचार्य	४६
तापागत	३०	४१		सांख्य	२२
द्वैत २५, ३७, ३९, ४१	मनीषी	१३, १६		सौमतामिमता	२७
नैयायिक	१८, ३५	सोमासक	२२	स्वाङ्गादिन् ३१, ३२, ४१	
परब्रह्म	३६, ४०	योग	२२	छाणिकैकास्त-	४५

### ५. प्रमाणप्रमेयकलिका-गत-दार्शनिक-लाक्षणिक-शब्दाः

असंख्य	४०	अनुवृत्त	४०	अभावांश	३७
अचेतन	७, ८, १६	अग्न्योग्याश्रय	२९	अयुतपिद	३४, ३६
अतिप्रसंग	८, १४	अह	३५	अयुतसिद्धत्व	३५
अतिव्याप्ति	१६	अपह्नुत	२५	अमिलाप	४४
अनवस्था	२९, ३२	अप्रतिगति	३२	अविद्या	४१
अनुमान	२१, ३०, ४१	अभाव	३२	अविश्रंवाद	२१, २२
अनेकान्तिक	३४	अभावप्रमाण	३८	अव्याप्ति	१६

अविर्गवादित्व	२२	अर्थचिन्तादात्म्य	३५,	दुष्टागत	४१
अर्थतत्त्व	४५		३६	धर्म	११, १२, १३
अर्थक्रिया	६	कर्ता	२३, २४	धर्मी	१८, २६
अर्थतथाभावप्रकाश	२२	धर्म	२२, २४	नय	४५
अर्थापत्ति	३७	करण	७, ९, २२, २४	निराश	३९
अर्थव्यवसायात्मक	२३	कालि	४६	निर्विकलक	३७, ३९
अर्थपरिच्छिन्ति	१९	कारक	११, १२, १३,	निर्णय	३७
अभिद्वि१०, १४, २२, ३४			१४	पर्याय	२९, ३०, ३६
धर्मभाव	१६	कारकमाकल्य	४, १०,	पक्ष	५, ३४, ४
अहङ्कार	९		१४	प्रतिज्ञा	१८, ३
अशक्तिक	२५	कर्मज्ञान	४१	प्रतिज्ञार्थकदेशाभिद्वि	१
अज्ञान	२१	काल	४६	प्रत्यभिज्ञान	३
अज्ञाननिवृत्ति	१८	कात्यायनादिष्ट	३४, ४०	प्रत्यक्ष	२२, २८, ३०, ३
आकाश	३६	क्रियाविरोध	२३	प्रत्यक्षाद्यवगार	३५
आगम	३७, ३८, ३९	गुण	३६	प्रमाण	१, ३, ७, १५
	४१	घ्राणज	२७		१६, १७, १८, २२,
आलोचन	३७	वाद्युप	२७		२५, २७, ३१, ४५
आवरण	१९	जात्यन्तर	३२, ३६	प्रमिति	९
इन्द्रिय	८, ९	तत्त्व	१, २९, ४४	फलद्वैत	४१
इन्द्रियवृत्ति	४, ७, ८	समोदिलगित	२३	प्रमेय	१, ६, २९
इन्द्रियप्रत्यक्ष	२१	तेज	३६	प्रमेयार्थ	१६, २५, ४५
उन्मत्तभाषित	२९	त्याग	४५	प्रवाद	४५
उपहृनुत	२५	दम	४५	प्रामाण्य	८, १६, २१, २७
उपमान	३७	दया	४५	पुष्टि	३५
उपादान	१८	दिक्	३६	बन्ध	४५
उपेक्षा	१८	द्रव्य	२७, ३२, ३३, ३५	बालविलसित	३९

बुद्धि	९	विरोध	२४, ३१, ३६	संसर्गहानि	४५
ब्रह्मविषय	३९	विमर्श	१९, ४०	सर्वव्यापक	३७
भाषाविषय	३४	विमोक्ष	२७, २८, ३०, ३२	साकल्य	१२, १४
भोग	४५	वैयर्थिकरूप	३२	साधकनम	७, १७
भूत	३१	व्यतिरेक	३२	साधन	४०
निष्पत्तिज्ञान	२१	व्यावृत्ति	४०	साधनाभास	४०
भोक्ता	१	व्यावृत्ति	२७, ३७	साध्या	४०, ४१
भोग	४१	साधन	४६	साध्या	२५, २६, २७, ३६
भूविषय	३९	सूक्ष्म	३५	गिज्ञासाधन	३१
भुक्तमद	२७	सकल	२७	सुदुर्लभवस्था	४४
योगिप्रत्यक्ष	२१	सकलसंयमहानि	४५	साधन	२७
योग्या	१९, ४४	साधनविशेष	३५	सकल	२९, ३९
साधन	२७	साधन	३४	सकलसाधन	३०, ४३, ४४
साधक	३९	समवाय	३२, ३५	सकलसाधनसाधक	२२
साधकसाधकमात्र	४१	समवायवृत्ति	४५	सकलसाधन	२१
साधकसाधकसम्बन्ध	४४	समाधि	४५	साधनसाधकसाधक	२१, २४
साधु	३९	समाधौ	२२	ज्ञान	१८
विकल्प	४४	सकल	३२	हेतु	४१
विचारकपुरस्कार	३६	सन्निवर्त	४, १५, १६	साधक	३५
विद्या	४१	सम्बन्धज्ञान	१७, १९, २३	साधिकासाधिका	२५
विद्यानू	३७	संयोग	१२, १३, १६, ३५	साधनसाधन	१९
विधि	३७, ३९	संयुक्तसमवाय	१६	ज्ञान	४, ५
विद्या	३४	संयुक्तसमवायसमवाय	१६	ज्ञानव्यापार	४, ६
विद्यविधि	३		१६	ज्ञान	८, ९, २०, २४, २५
विमोक्ष	४५	संयम	१७, २२, ३२		
विमद	२४	संयम	२८		



